खंड IV

इतिहास लेखन की क्षेत्रीय परम्पराएँ



समय रेखा

भक्ति संतचरित लेखन

वैष्णव संतचरित लेखन

संत चरित लेखन

सूफ़ी संतचरित लेखन

तज़किरात

मलफ़ूज़ात

वंशावलियाँ

चारण, भाट और वहीवांचा बारोट

कुलग्रंथ

पुस्तनामा

तीर्थ वंशावलियाँ

वारिजा

पारिवारिक दस्तावेज़: हरि-भक्ति दस्तावेज़

बखर और बुरँजी

THE PEOPLE'S UNIVERSITY

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति करते सूरदास; *गीत गोविन्द* से एक पृष्ठ
चित्रकारः अज्ञात; 1730 सी ई
साभारः द गवर्नरमेंट म्यूज़ियम एंड आर्ट गैलरी, चंडीगढ़
स्रोतः https://commons.wikimedia.org/wiki/File:Git_govind_large.jpg

इकाई 9 संतचरित लेखन और भक्ति परम्परा*

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 इतिहास के स्रोत के रूप में संतचरित साहित्यः समस्याएँ और संभावनाएँ

9.3 सूफ़ी संतचरितात्मक आख्यान

- 9.3.1 *तज़किरात*
- 9.3.2 *मलफूज़* साहित्य में दंतकथाएँ
- 9.3.3 संतचरित ग्रंथों के रूप में संदिग्ध *मलफूज़ात*
- 9.3.4 सूफ़ी संतचरित साहित्य का ऐतिहासिक महत्व

9.4 संतचरितात्मक भक्ति आख्यान

- 9.4.1 वैष्णव संतचरित लेखन
- 9.4.2 संत चरित लेखन
- 9.4.3 भक्ति संतचरित लेखन का ऐतिहासिक महत्व

9.5 भक्ति काव्य

- 9.5.1 संत काव्यः संतों की *बाणियाँ*
- 9.5.2 वैष्णव भक्ति काव्य
- 9.5.3 भक्ति काव्य का ऐतिहासिक महत्व

9.6 इतिहास के स्रोत के रूप में सूफ़ी लोक साहित्य

9.7 सूफ़ी *प्रेमाख्यानों* का ऐतिहासिक महत्व

9.8 सारांश

9.9 शब्दावली

9.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.11 संदर्भ ग्रंथ

9.12 शैक्षणिक वीडियो

9.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई भक्ति और सूफ़ी संतचरित लेखन की परंपराओं पर विचार करती है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित की पहचान करने और समझ बनाने में सक्षम होंगेः

- संतचरित लेखन क्या है?,
- संतचरित लेखन का ज्ञान,
- इतिहास के स्रोत के रूप में संतचरित लेखन का महत्व,
- सूफ़ी संतचरित आख्यान,
- *तज़किरात* और *मलफूज़ात* क्या हैं?,
- वैष्णव और संत चरित लेखन के बीच अंतर,

* प्रो. आर. पी. बहुगुणा, इतिहास तथा संस्कृति विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली

- भक्ति संतचरित लेखन का महत्व,
- भक्ति काव्य का ऐतिहासिक महत्व,
- इतिहास के स्रोत के रूप में सूफ़ी लोक साहित्य का महत्व, और
- सूफ़ी *प्रेमाख्यानों* का ऐतिहासिक महत्व।

9.1 प्रस्तावना

संतचरित लेखन ऐसा साहित्य है जो संतों जैसे वैष्णव संतों, भक्तों और शहीदों के जीवन को महिमामंडित और लेखबद्ध करता है। यह कहा जा सकता है कि संतचरित लेखन एक प्रकार के जीवनीपरक आख्यान हैं, जो अपने विषय को बिना आलोचक हुए प्रशंसात्मक रूप से प्रस्तुत करते हैं और इस हेतु आलंकारिक भाषा का उपयोग करते हैं। चमत्कारी घटनाओं का वर्णन और धार्मिक नायकों का करिश्माई चरित्रों के रूप में चित्रण संतचरितात्मक साहित्य की मूलभूत विशेषता है। सूफ़ी संतों, वैष्णव भक्तों और संतों के आदर्श जीवन पर, चौदहवीं से अठारहवीं शताब्दी के बीच, विभिन्न भाषाओं और विभिन्न शैलियों में विपुल साहित्य सृजित हुआ है। सूफ़ी संतचरित ग्रंथ को ***तज़किरा*** (बहुवचन में ***तज़किरात***) कहा जाता है। *तज़किरात* सूफ़ी संतों के जीवनीपरक वृत्तांत या संतचरित विवरण होते हैं और इन्हें लिखित और मौखिक परंपराओं से संकलित किया जाता है। ऐसा संतचरित साहित्य जिसमें किसी वैष्णव भक्त या संत का जीवनीपरक आख्यान, या वर्णन या उनका मात्र उल्लेख होता है, उसे विभिन्न नामों जैसे *भक्तमाल* या *भगतमाल* (भक्तों की माला), ***परचई*** या ***परचै*** (संत का जीवन परिचय), *लीला* (नाटक), ***चरित*** (जीवन चरित), *वार्ता* (कथा या वृत्तांत), इत्यादि नामों से जाना जाता है। गुरु नानक के जीवन के आख्यान *जनम-साखी* साहित्य में पाए जाते हैं। सूफ़ी संतचरित लेखन अक्सर गद्य रूप में तथा फ़ारसी भाषा में लिखा गया है। वहीं भक्ति संतचरित लेखन काव्य के रूप में विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में लिखा गया है। *पुष्टिमार्गीय* वैष्णव भक्तों के ***वार्ता*** ग्रंथ ब्रजभाषा की गद्य शैली में लिखे गए हैं।

मुग़ल काल, विशेष रूप से उत्तर भारत में, भक्ति और सूफ़ी संतचरितों की रचना का स्वर्णकाल था। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी की जीवंत धार्मिक संस्कृति कई धार्मिक समुदायों, समूहों तथा संतों के पंथों के पल्लवन से परिभाषित होती थी। संतों, सूफ़ियों, नाथपंथियों, शाक्त और वैष्णव पंथों के अनुयायियों ने एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा, परस्पर स्वीकार्यता और समझौतों पर आधारित संबंध के दायरे में अंतर्संवाद किया। ये नए भक्ति-आधारित समुदायों और संतों के पंथों का प्रसार मुग़ल भारत में दूर-दूर तक था और इन्होंने समकालीन शासकों तथा स्वायत्त सरदारों के साथ राजनीतिक संबंध विकसित किए थे। ये विकासक्रम महान् वैष्णव प्रचारकों, सूफ़ी संतों और भक्ति संतों की मृत्योपरांत लोकप्रियता में अभूतपूर्व वृद्धि के साथ-साथ घटित हुए थे। इसने, परिणामस्वरूप, अतीत के महान् भक्ति और सूफ़ी संतों, जैसे शेख़ मोइनुद्दीन चिश्ती, शेख़ फरीदुद्दीन गंज-ए शकर, शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया, नामदेव, कबीर, रैदास, गुरु नानक, दादू, रामानंद, वल्लभाचार्य, चैतन्य, मीरा, सूरदास, तुलसीदास, इत्यादि के जीवन और कृत्यों के संबंध में और अधिक जानने की इच्छा को जन्म दिया। परिणामतः, इन नए धार्मिक पंथों के अनुयायियों ने अतीत के इन महान् आध्यात्मिक गुरुओं के आख्यानों को सूफ़ी *तज़किरात*, संदिग्ध ***मलफ़ूज़ात***, *भक्तमालों, जनम-साखियों, संवादों, परचईयों* तथा *गोष्ठियों* के रूप में सृजित किया। इन पवित्र आत्माओं के जीवन के जीवन-वृत्तांतों में मौजूद व्यापक अंतरालों को भरते हुए इन कथावाचकों या संतचरित लेखकों का मुख्य उद्देश्य धार्मिक पुण्य कमाना था। लेकिन ऐसा करने की प्रक्रिया के दौरान वे अपने संप्रदायों, पंथों और समुदायों के आधिकारिक इतिहासकारों के रूप में उभरे। इन जीवन-वृत्तों ने इन समूहों की विचारधारात्मक और पंथगत आवश्यकताओं की पूर्ति की। इन संतचरित रचनाओं ने विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच विविध अंतर्क्रियाओं के इस परिवेश में उनकी पहचान को गढ़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। संतचरितात्मक आख्यान किसी समुदाय या समूह द्वारा धारित विश्वास को अभिव्यक्त करते थे तथा उस सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश को सामने लाते थे जिनमें इन कथात्मक वृत्तांतों को रचा या लिखा गया था। यह सूफ़ी तथा भक्ति, दोनों, प्रकार के संतचरित लेखनों की चारित्रिक विशेषता है। इनमें सूफ़ी शेखों और भक्ति उपदेशकों की धर्म-संबंधी शास्त्रार्थों में विजयी रहने की योग्यता पर विशेष बल दिया गया है। ये ग्रंथ सूफ़ी अनुयायियों और भक्ति अनुयायियों के बीच मुक़ाबले, परस्पर वार्ता और

कई बार एक-दूसरे के क्षेत्र में अनुगमन की बहुविध प्रक्रियाओं को सामने लाते हैं। ये संतों, सूफ़ियों, नाथपंथियों, वैष्णवों और शाक्त अनुयायियों के बीच प्रतिस्पर्धा और परस्पर समागम पर भी प्रकाश डालते हैं।

समय बीतने के साथ, सूफ़ी शेख़ों और भक्ति गुरुओं के संबंध में ऐतिहासिक तथ्यों में कथात्मक तत्वों के समावेश में अभिवृद्धि होती रही। बाद के संतचरित साहित्य में प्रारंभिक संतचरित साहित्य की अपेक्षा कल्पनात्मक प्रकृति की अधिक जानकारी और सूचना मिलती है। संतचरित साहित्य में इस प्रक्रिया का प्रमुख उदाहरण शेख़ मोइनुद्दीन चिश्ती और कबीर के व्यक्तित्व के संबंध में दंतकथाओं का विकास है।

9.2 इतिहास के स्रोत के रूप में संतचरित साहित्यः समस्याएँ और संभावनाएँ

कुछ विद्वानों ने संतचरितात्मक आख्यानों को कल्पनापूर्ण और चमत्कारों की महिमा-वर्णन के रूप में ख़ारिज किया है जिनका अल्प ऐतिहासिक महत्व है। इन सामग्रियों को सांप्रदायिक प्रचार के हिस्से के रूप में भी देखा गया है। अन्य विद्वानों ने यह अवलोकन किया है कि चमत्कारी कहानियाँ इस्लामी संस्कृति, *पुराणों* और नाथपंथियों की शिक्षाओं में पवित्र संतों और आदर्श भक्तों के व्यवहार की कुछ मूल परम्पराओं को पुष्ट करती हैं। वहीं कुछ अन्य ऐसे विद्वान हैं, जिन्होंने उस सत्य के केंद्र तक पहुंचने की कोशिश की है जिनसे इन चमत्कारी कहानियों का विकास हुआ है। संप्रदायों से जुड़े हुए ऐसे लेखक जो मध्यकालीन सूफ़ी *सिलसिलों,* वैष्णव संप्रदायों और संतों के *पंथ* से आधुनिक समय में विकसित होने वाले किसी न किसी धार्मिक अधिष्ठान के प्रति आस्था रखते हैं, उन्होंने इन चमत्कारपूर्ण वृत्तांतों का अधिक तर्कपूर्ण रूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

यह सच है कि इतिहासकार चमत्कारी घटनाओं और काल्पनिक कथाओं को ऐतिहासिक और प्रमाणिक तथ्यों के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते हैं। सूफ़ियों, वैष्णव भक्तों और संतों का संतचरित साहित्य सामान्यतः उनकी मृत्यु के कई दशकों और कई बार शताब्दियों बाद भी लिखा गया है। यद्यपि दंतकथाओं को गढ़ना समस्त संतचरित साहित्य का अखंड हिस्सा रहा है, सूफ़ी और वैष्णव भक्ति संतों के संबंध में ऐसी चमत्कारी कथाओं की संख्या समय के साथ-साथ बढ़ती गई है। वे अपने क्षेत्र और चरित्र को लेकर अधिकाधिक मिथकीय स्वरूप ग्रहण करते गए हैं। इस प्रकार बाद के सूफ़ी संतचरित लेखन आरंभिक काल के सूफ़ी शेख़ों, विशेष रूप से शेख़ मोइनुद्दीन चिश्ती, को एक उत्साही धर्म प्रचारक और धर्म सुधारक के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिन्होंने अपनी पारलौकिक शक्तियों के माध्यम से ग़ैर-मुस्लिमों को इस्लाम में धर्मांतरित किया। इसी प्रकार, कबीरपंथी संतचरित साहित्य में 18वीं शताब्दी में *सागर* शैली के साहित्य ने कबीर को पौराणिक शैली में एक मिथकीय चरित्र के रूप में चित्रित करना शुरू किया। इस प्रकार की अभिवृद्धि और जोड़-तोड़ के प्रकाश में संतचरित साहित्य को किसी संत या भक्त की ऐतिहासिक जीवनी को रचने के उद्देश्य से विश्वसनीय स्रोत या एक सुरक्षित मार्ग-निर्देशक नहीं माना जा सकता है। आधुनिक इतिहासकारों द्वारा इन संतों की ऐतिहासिक जीवनी को पुनर्रचित करने के लिए इन्हें स्रोत सामग्री के रूप में प्रयोग करते समय, उनके जीवनकाल तथा उनके संबंध में लिखे गए संतचरित साहित्य के संकलन की तिथि के बीच समय के अंतराल को ध्यान में रखना चाहिए। विश्वसनीय स्रोतों को संतचरित वृत्तांतों में दर्ज जानकारी से अवश्य पुष्ट करना चाहिए, यदि कोई बाह्य स्रोत किसी संतचरित साहित्य में प्रस्तुत जानकारी से मेल नहीं खाता है तो बाह्य स्रोत की जानकारी को विश्वसनीय समझना चाहिए।

यद्यपि, मात्र इसलिए कि संतचरितात्मक ग्रंथों में कल्पनापूर्ण आख्यान और चमत्कारी कहानियाँ दर्ज हैं, यह मान लेना ग़लत होगा कि ऐतिहासिक स्रोतों के रूप में उनका महत्व शून्य है। सर्वाधिक आधार स्तर पर तो सूफ़ी और भक्ति संतचरित साहित्य कथावाचन की कला की विभिन्न शैलियों का मानक तय करता है। किंतु, इससे परे यह उस काल के संबंध में जानकारी उपलब्ध कराने के लिए इतिहासकारों के लिए अत्यंत महत्व की हैं, जिस काल में इन्हें लिखा, हस्तांतरित और प्रसारित किया गया था। इतिहासकारों ने धार्मिक चरित्रों, जैसे शेख़ मोइनुद्दीन चिश्ती, कबीर और गुरु नानक, के जीवन की ऐतिहासिक पुनर्रचना करने हेतु इस संतचरितात्मक साहित्य का समालोचनात्मक परीक्षण करते हुए और कथात्मक विवरणों से ऐतिहासिक तथ्यों को अलग करते हुए उपयोग किया है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है कि, जैसा कि हम आने वाले भागों 'सूफ़ी संतचरित साहित्य का ऐतिहासिक

महत्व' और 'भक्ति संतचरित साहित्य का ऐतिहासिक महत्व' में देखेंगे, ऐसे कई तरीके हैं जिनके माध्यम से सूफ़ी और भक्ति साहित्य को 14वीं और 18वीं शताब्दी के बीच के काल के भारत के सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन हेतु लाभदायक अर्थ में स्रोत के रूप में प्रयोग किया जाता है, किंतु ऐसा करने से पूर्व हमें विभिन्न सूफ़ी और भक्ति चरित परंपराओं से अवश्य परिचित होना चाहिए।

बोध प्रश्न-1

1) 'संतचरित लेखन' का आशय स्पष्ट कीजिए और संतचरित साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

.....

.....

.....

2) संतचरित साहित्य को इतिहास के स्रोत के रूप में इस्तेमाल करने की समस्याएँ और सम्भावनाएँ क्या हैं?

.....

.....

.....

9.3 सूफ़ी संतचरितात्मक आख्यान

इस काल में लिखे गए *तज़किरात* सूफ़ी संतचरित साहित्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। सूफ़ी संतचरित आख्यानों में दो अन्य प्रकार के ग्रंथीय आख्यानों को शामिल किया जा सकता है, इनमें से एक तो प्रामाणिक *मलफ़ूज़* साहित्य में शामिल कथाएँ हैं और दूसरे संदिग्ध *मलफ़ूज़ात* हैं।

9.3.1 *तज़किरात*

सल्तनत और मुग़ल कालों में सूफ़ियों और सूफ़ीवाद के अध्ययन हेतु प्रयुक्त ग्रंथीय स्रोतों में सूफ़ीवादी निबंध और काव्यात्मक कृतियाँ, *मलफ़ूजात* (सूफ़ी संतों के प्रवचन या विमर्श), ***मक़तूबात*** (सूफ़ियों के पत्र) और हिंद-फारसी तारीख़ें और *तज़किरात* (सूफ़ी संतों के जीवन परिचय या उनके जीवनी कोश) शामिल हैं। भारत में सूफ़ी संतों के जीवन के अध्ययन हेतु *तज़किरात* सबसे प्रमुख स्रोत हैं। इस काल में लिखे गए कुछ प्रमुख *तज़किरातों* में अमीर खुर्द का *सियार-उल औलिया* (1388), जमाली का *सियार-उल आरिफ़ीन* (1536), अब्दुल हक़ मुहद्दिस देहलवी का *अख़बार-उल अख्यार* (1618), दाराशिकोह का *सफ़ीनत-उल औलिया* (1640) और *सकीनत-उल औलिया* (1640-42), तथा अब्दुल रहमान चिश्ती का *मिरात-उल असरार* (1654) हैं।

सियार-उल औलिया (संतों के जीवन चरित): यह सल्तनत काल में लिखा गया पहला प्रमुख *तज़किरा* है। इस कृति की रचना 1388 के आस-पास अमीर खुर्द द्वारा की गई थी, वे अपने बचपन में ही शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया के शिष्य बन गए थे। यह कृति भारत में चिश्ती *सिलसिले* का इतिहास है। चूँकि अमीर खुर्द का चिश्तियों और उनके अतीत से लंबा संबंध रहा था, उनकी कृति में विश्वसनीयता और प्रामाणिकता का निश्चित अंश है। यह भारत में चिश्ती *सिलसिले* के आरंभिक इतिहास के अध्ययन हेतु एक अपरिहार्य महत्व का ग्रंथ है। जानकारी हेतु महत्वपूर्ण स्रोत होने के बावजूद यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस रचना में दंतकथात्मक तत्व हैं तथा अपनी प्रकृति में यह संतचरित लेखन है। *सियार-उल औलिया* में चिश्ती *सिलसिले* की स्थापना करने वाले संत मोइनुद्दीन चिश्ती का संक्षिप्त उल्लेख संदिग्ध *मलफ़ूज़ात* में उपलब्ध जानकारियों पर आधारित है। शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया के संबंध में दंतकथाओं को गढ़ने की शुरुआत भी इसी कृति में खोजी जा सकती है।

सियार-उल आरिफ़ीन (सूफ़ियों के जीवन वृत्तांत): इस कृति की रचना जमाली द्वारा 1536 के आस-पास की गई थी। यह लेखक सुहरावर्दी सूफ़ियों से संबंधित था। किंतु यह कृति चिश्ती और सुहरावर्दी *सिलसिलों* के तेरह प्रमुख संतों के वृत्तांतों को समाहित करती है, किंतु इसमें अन्य सूफ़ी *सिलसिलों* के संतों के संबंध में भी जानकारी है। उदाहरण के लिए, *सियार-उल आरिफ़ीन* हमें यह

जानकारी देती है कि कलंदरिया *सिलसिले* के सूफ़ी अपने सिर, दाढ़ी, मूंछ और भौंह मुढ़वाते थे। जमाली द्वारा उल्लिखित स्रोतों में शामिल हैं, *फ़वायद-उल फ़वाद*, *ख़ैर-उल मजालिस* और *सियार-उल औलिया*। वे सुहरावर्दी *सिलसिले* के किसी लिखित स्रोत का उल्लेख नहीं करते हैं, किंतु इस *सिलसिले* की मौखिक परम्परा को आधार बनाते हैं। इस रचना में हमें ख़्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती के जीवन का पहला विस्तृत वृत्तांत मिलता है। यह रचना संदिग्ध *मलफ़ूज़ात* का उपयोग नहीं करती है, किंतु शेख़ मोइनुद्दीन चिश्ती के जीवन के संबंध में दंतकथाओं की सामग्री का उपयोग करती है।

अख़बार-उल अख़्यार (महात्माओं की कथाएँ): इस कृति की रचना अब्दुल हक़ मुहद्दिस देहलवी (1551-1642) द्वारा की गई थी। यह मुग़ल काल का सर्वाधिक प्रमाणिक और सर्वाधिक उद्धृत *तज़किरा* है। यह बृहद् आकार का जीवनी संकलन है और इसे सूफ़ी जीवन-वृत्तों के संकलन का सबसे बेहतर उदाहरण माना जाता है और यह भारतीय सूफ़ियों के संबंध में जानकारी हेतु एक विश्वसनीय स्रोत है। चूँकि इसकी रचना करने वाला लेखक क़ादिरी *सिलसिले* से जुड़ा हुआ था, यह एक ग़ैर-चिश्ती वृत्तांत है। यह कृति चिश्ती, सुहरावर्दी, फ़िरदौसी, शत्तारी, कलंदरी और क़ादिरी *सिलसिलों* से जुड़े दो सौ साठ संतों का विवरण देती है। इससे संलग्न एक परिशिष्ट चौदह धर्मपरायण भारतीय महिलाओं का विवरण भी देता है। अब्दुल हक़ ने सूचनाओं को एकत्र करने और अपने साक्ष्यों का परीक्षण करने में अत्यंत सावधानी बरती है, किंतु इसमें भी दंतकथात्मक सामग्री और चमत्कारिक तत्वों का अभाव नहीं है। इस प्रकार अमीर खुर्द की *सियार-उल औलिया* की तरह यह भी *दलील-उल आरिफ़ीन* जैसे संदिग्ध स्रोतों को उद्धृत करती है। यह महत्वपूर्ण है कि यह कृति सर्वाधिक प्रसिद्ध पूर्वगामी संत कबीर की आरंभिक सोलहवीं शताब्दी वाली छवि का उल्लेख करती है, एक *मुवाहिद* या एकेश्वरवादी के रूप में, जो हिंदू तथा मुस्लिम दोनों ही धर्मों से स्वतंत्र थे। कबीर ने अपने जीवनकाल में ही ख्याति पा ली थी, यह अब्दुल हक़ मुहद्दिस देहलवी के दादाजी (जिनकी मृत्यु 1523 के आस-पास हुई और जो संभवतः कबीर के समकालीन रहे थे) ने उनके पिता को बताया था कि कबीर न तो हिंदू थे और न ही मुस्लिम बल्कि एक *मुवाहिद* यानी एकेश्वरवादी थे। यह साक्ष्य हमें यह भी बताता है कि अब्दुल हक़ के दादा की मृत्यु के समय तक कबीर की कविताएँ लोगों के बीच लोकप्रिय हो चुकी थीं।

***सफ़ीनत-उल औलिया* (संतों का जहाज़) और *सकीनत-उल औलिया* (संतों का शांत-भाव)**: इन संतचरित ग्रंथों की रचना शहज़ादे दारा शिकोह द्वारा की गई थी। *सफ़ीनत-उल औलिया* की रचना 1640 में हुई थी और यह मोटे तौर पर सूफ़ी संतों के संबंध में जीवनीपरक कृति है। दारा शिकोह ने इस रचना में लगभग चार सौ सूफ़ियों के वृत्तांतों को शामिल किया है। *सफीनत-उल औलिया* एक महत्वपूर्ण संतचरित ग्रंथ है क्योंकि यह दारा के धार्मिक और बौद्धिक विचार के संबंध में अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। इस काल के राजनीतिक इतिहास के दृष्टिकोण से इस कृति का महत्व इस तथ्य में है कि यह स्पष्ट रूप से, कुछ आधुनिक राजनीतिक व्याख्याकारों के विपरीत, शेख़ अहमद सरहिंदी के प्रति दारा की श्रद्धापूर्ण मनोवृत्ति का संकेत करता है। अन्य संतचरित कृति *सकीनत-उल औलिया* 1640 तथा 1642 के बीच लिखी गई थी। यह दारा के आध्यात्मिक गुरु मियाँ मीर और प्रख्यात क़ादिरी संत तथा उनके शिष्यों की जीवनी है।

मिरात-उल असरार: *मिरात-उल-असरार* (1654 में पूर्ण) अवध के चिश्ती संत अब्दुल रहमान चिश्ती द्वारा लिखित सूफ़ी संतों की जीवनी का एक विशाल संग्रह है। उन्होंने अन्य कई संतचरित ग्रंथ, जैसे *मिरात-उल मदारिया* और *मिरात-उल मसूदी* भी लिखे थे। *मिरात-उल असरार* पैग़म्बर मुहम्मद के समय से लेकर 1654 में इस ग्रंथ को पूरा किए जाने तक हज़ार सालों के सूफ़ीवाद के इतिहास को दर्ज करती है। यह कृति तेईस अध्यायों में विभाजित है तथा इसकी शुरुआत के कुछ अध्याय शुरुआती काल के महान् ग़ैर-भारतीय सूफ़ी संतों से संबंधित हैं। इस रचना के इस हिस्से में लेखक चिश्ती *सिलसिले* के मूल और स्रोत के संबंध में सूचना देता है। बाद के अध्यायों में भारतीय सूफ़ियों पर ध्यान केंद्रित किया गया है यद्यपि कुछ ग़ैर-भारतीय सूफ़ियों का भी यहाँ उल्लेख है। भारतीय सूफ़ियों का वृत्तांत प्रस्तुत करते हुए अब्दुल रहमान स्पष्ट तौर पर चिश्ती संतों को अधिक स्थान देते हैं। भारत में सूफ़ीवाद के इतिहास को अब्दुल रहमान ने मुख्यतः चिश्ती *सिलसिले* के प्रभुत्वशाली स्थिति के ढाँचे में रखकर देखा है। अब्दुल रहमान चिश्ती की रचनात्मक ऐतिहासिक कल्पना में भारत में मोइनुद्दीन चिश्ती से शुरू कर बाद के सभी चिश्ती शेख़ों को उनकी पीढ़ी के सभी भारतीय तथा ग़ैर-भारतीय सूफ़ियों के लिए *कुत्ब* (*qutb*) या धुरी

की भूमिका निभाने वालों के रूप में देखा गया है। इस परिकल्पना में चिश्ती *सिलसिला* और भारत में इसके शेख़ वह धुरी बन गए हैं जिसके चारों ओर सूफ़ीवाद का इतिहास घूमता है। इस तरह, जैसा कि मुज़फ़्फ़र आलम का अवलोकन है, *मिरात-उल असरार* को 'चिश्ती विचारधारा और इसके रीतियों की वैधता, जिसमें *वहदत अल-वुजूद* (ईश्वर के एकत्व) और *समा* (सूफ़ी संगीत) के सिद्धांत भी शामिल हैं, के सुविचारित अभिकथन के रूप में पढ़ा जा सकता है' (आलम 1921: 96)।

सूफ़ियों पर विस्तृत जानकारी प्रदान करने के अलावा *मिरात-उल असरार* में कबीर की आध्यात्मिक ख़ोज के संतचरितात्मक आख्यान भी शामिल हैं। अब्दुल रहमान चिश्ती के विवरण में कबीर की आध्यात्मिक अनुभूति की प्रगति के चरणों का वर्णन है। जहाँ *अख़बार-उल अख़्यार* में सोलहवीं शताब्दी की शुरुआत में कबीर की एक *मुवाहिद* की छवि का उल्लेख है, *मिरात-उल-असरार* में यह प्रसिद्ध संत विभिन्न आध्यात्मिक मार्गों का अनुसरण करने के बाद फ़िरदौसिया *सिलसिले* के सूफ़ी के रूप में उभरते हैं। *मिरात-उल असरार* में कबीर का जीवनी वृत्तांत भी कबीर जैसे गैर-ब्राह्मणवादी, निम्न-वर्ग के बुनकर-संत की लचीली धार्मिक पहचान और बदलते आध्यात्मिक जुड़ाव की एक विशद् तस्वीर प्रस्तुत करता है। इस संतचरित ग्रंथ में कबीर से संबंधित अंश का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है:

> मख़दूम शेख़ भिख, जो अवध से चार कोस दूर, बिलाहरी में दफ़न हैं, शेख़ जमाल गूजर के प्रमुख शिष्य थे... मख़दूम शेख भिख के प्रसिद्ध ख़लीफ़ाओं में से एक कबीर *मलामती* थे। अपने सूफ़ी/संत जीवन की शुरुआत में, कबीर शेख़ तक़ी बिन शेख़ रमज़ान हाइक (एक बुनकर) सुहरावर्दी के शिष्य थे। शेख तक़ी की कब्र इलाहाबाद के पास झूसी में है। बाद में, कबीर *मलामती* रामानंद बैरागी के शिष्य बन गए और उन्होंने कठिन तपस्या की। उनकी सूफ़ी धारणा में *तौहीद* की प्रबलता ने उन्हें आडंबरी लोगों ('*उलमा*') की उपेक्षा करने के लिए प्रेरित किया, और उन्होंने बिना किसी हिचक के सूफ़ी विचारों को व्यक्त करना शुरू कर दिया। आडंबरी लोगों ने उनकी क़ाफ़िर हो जाने के लिए निंदा की, लेकिन रहस्यवादियों (gnostics) और दीक्षित ज्ञान (esoteric knowledge) के विशेषज्ञों ने उन्हें एक मुखर *मुवाहिद* माना, वे *मलामतियों* की तरह समाधि में मगन रहते थे। अंत में उन्होंने शेख़ भिख से फ़िरदौसिया *ख़िरक़ा* लिया तथा *सुलह-ए कुल* (सार्वभौमिक शांति) में आध्यात्मिक संतोंष पाया। गोरखपुर में मगहर में उनकी मज़ार पर बड़ी संख्या में लोग पहुँचते हैं।
>
> **एस.ए.ए. रिज़वी, *हिस्ट्री ऑफ़ सूफ़िज़्म इन इंडिया*, भाग II, दिल्लीः मुंशीराम मनोहरलाल, 2002, पृष्ठ 412**

9.3.2 *मलफ़ूज़* साहित्य में दंतकथाएँ

मलफ़ूज़ात (*मलफ़ूज़* का बहुवचन) सूफ़ी संतों के मौखिक प्रवचन हैं, जो उनके अनुयायियों द्वारा लिखित ग्रंथों में दर्ज किए गए हैं। इनमें सूफ़ी संतों की शिक्षाएँ शामिल हैं। *फ़वायद-उल फ़ुवाद* (हृदय हेतु सदाचरण) मध्यकालीन युग के दौरान लिखे गए *मलफ़ूज़ातों* का सर्वप्रथम और शायद सबसे महत्वपूर्ण संग्रह है। इस रचना में सल्तनत काल के सबसे प्रसिद्ध सूफ़ी संत शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया (1242-1325) के संवाद और विमर्श शामिल हैं। यह उनके शिष्य अमीर हसन सिज्ज़ी द्वारा फ़ारसी में लिखा गया था। *फ़वायद-उल फ़ुवाद*, बाद के *मलफ़ूज़ातों* के लिए मानक बन गया, जो चौदहवीं शताब्दी के मध्य के बाद लिखे गए। *ख़ैर-उल मजालिस* हमीद कलंदर द्वारा संकलित नसीरुद्दीन चिराग-दिल्ली के *मलफ़ूज़ात* हैं। अधिकांश *मलफ़ूज़* साहित्य को संतचरित साहित्य नहीं माना जा सकता है क्योंकि *मलफ़ूज़ात* के लिखित संस्करणों को आमतौर पर संबंधित सूफ़ी शेख़ द्वारा संपादित और अनुमोदित किया गया था। ये विभिन्न सामाजिक और धार्मिक मुद्दों पर उनके विचारों का प्रामाणिक विवरण थे। लेकिन *मलफ़ूज़ातों* में आमतौर पर सूफ़ी शेखों द्वारा अपने विचारों और तर्कों को प्रमाणित करने के लिए इस्तेमाल की गई दंतकथाएँ शामिल होती हैं। इसलिए, ये दंतकथाएँ संतचरितात्मक हैं और अन्य सूफ़ी संतचरित लेखनों की तरह ही ऐतिहासिक मूल्य रखते हैं।

9.3.3 संतचरित साहित्य के रूप में संदिग्ध *मलफ़ूज़ात*

चिश्ती सूफ़ी *सिलसिले* और उसके शेख़ों की बढ़ती लोकप्रियता और *फ़वायद-उल फ़ुवाद* के गहन प्रभाव के कारण चौदहवीं शताब्दी के मध्य से मिथ्यापूर्ण या नक़ली *मलफ़ूज़ातों* का संकलन शुरू हुआ।

इन नक़ली *मलफ़ूज़ातों* के जीवनीपरक संदर्भों को भी संतचरित लेखन के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। ये संदिग्ध *मलफ़ूज़ात* आंतरिक या बाहरी निरीक्षण के अधीन नहीं थे और इनमें सूफ़ी शेख़ों के बारे में चमत्कारी कहानियाँ थीं। काल्पनिक कहानियों और चमत्कारी घटनाओं के उपाख्यानों से युक्त इन संदिग्ध *मलफ़ूज़ातों* की दो महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं: *अनीस-उल अरवाह*, शेख़ मोइनुद्दीन चिश्ती के मुर्शिद (आध्यात्मिक गुरु) शेख उस्मान हरवानी के कथित संवाद, और *दलील-उल आरिफ़ीन*, शेख़ मोइनुद्दीन चिश्ती के कथित संवाद। विद्वानों ने अब यह स्थापित किया है कि निज़ामुद्दीन औलिया से पहले के किसी भी चिश्ती शेख़ के *मलफ़ूज़ात* की प्रामाणिकता अत्यधिक संदिग्ध है। अत्यधिक संभावना है कि *अनीस-उल अरवाह* को 1324 और 1355 के बीच कभी लिखा गया था, और *दलील-उल आरिफ़ीन* को 1355 और 1385 के बीच बहुत बाद में संकलित किया गया था। इस प्रकार *मलफ़ूज़ात* के संदिग्ध संग्रह काफ़ी पहले दिखाई देने लगे थे। उन्होंने बाद के *तज़किरा* लेखकों के आख्यानों को प्रभावित किया, जिन्होंने उनमें निहित काल्पनिक जानकारी का इस्तेमाल किया। चूँकि संदिग्ध *मलफ़ूज़ात* कालानुक्रमिक रूप से त्रुटिपूर्ण और काल्पनिक हैं, इसलिए उन्हें सूफ़ी संतों के जीवन और विचारों के अन्वेषण के लिए स्रोतों के रूप में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता है। हालांकि, संदिग्ध *मलफ़ूज़ातों* में दर्ज़ उपाख्यान संतों की बदलती छवियों और उन अनुयायियों की धारणाओं, जिन्होंने इन छवियों को गढ़ा और प्रचारित किया, की अंतर्दृष्टि प्राप्त करने के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, शेख़ मोइनुद्दीन चिश्ती के संदिग्ध *मलफ़ूज़ात* और इसमें शामिल दंतकथाओं के प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि इनका उदय और विकास बाद के काल में उनके पंथ की बढ़ती लोकप्रियता और राजनीतिक प्रभाव के संदर्भ में हुआ था।

9.3.4 सूफ़ी संतचरित साहित्य का ऐतिहासिक महत्व

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, *तज़किरा* साहित्य में सूफ़ी संतों के जीवन के बारे में कथात्मक सामग्री है। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, शेख़ मोइनुद्दीन चिश्ती के जीवन के बारे में *तज़किरातों* में कई चमत्कारिक कहानियाँ हैं। यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि *तज़किरात* की सर्वप्रथम रचना शेख़ मोइनुद्दीन चिश्ती की मृत्यु के कम से कम 150 साल बाद लिखी गई थी। मोइनुद्दीन चिश्ती का उल्लेख करने वाला पहला *तज़किरा सियार अल-औलिया* है, जहाँ उनका संक्षेप में उल्लेख किया गया है। बाद की संतचरित रचनाओं में शेख़ मोइनुद्दीन चिश्ती की कथाओं का क्रमिक विकास हुआ। आधुनिक विद्वानों ने शेख़ मोइनुद्दीन चिश्ती और अन्य सूफ़ी संतों के जीवन की ऐतिहासिक पुनर्रचना के लिए प्रामाणिक स्रोतों के रूप में *तज़किरात* के कथात्मक विवरणों को ख़ारिज कर दिया है। हालांकि, *तज़किरात*, कुल मिलाकर, काफ़ी मात्रा में प्रामाणिक और उपयोगी जानकारी प्रदान करते हैं। *तज़किरा* साहित्य का दंतकथात्मक भाग भी अत्यंत ऐतिहासिक महत्व का है क्योंकि उस संदर्भ का अध्ययन करना इतिहासकार का कार्य है जिसमें इन किंवदंतियों का सृजन और प्रसार हुआ।

सूफ़ियों से संबंधित जीवनीपरक सामग्री सूफ़ी विचारों और रीतियों, इस्लाम के मूल सिद्धांतों की सूफ़ी समझ और भारतीय संदर्भ में उनके द्वारा की गई इस्लाम की व्याख्या, सूफ़ी शेखों के चरित्रों और व्यक्तित्वों, सूफ़ी मुर्शिदों और उनके शिष्यों के बीच संबंधों, सूफ़ी उस्तादों (*मुर्शिदों*) द्वारा अपने *मुरीदों* को जारी किए गए प्रमाणपत्रों के अंतःतत्वों, *मुरीदों* के लिए आचरण के मानदंडों, लोकप्रिय मान्यताओं और प्रथाओं और उनके प्रति सूफ़ी दृष्टिकोणों, महिलाओं, पितृसत्ता, ब्रह्मचर्य और तपस्या के प्रति सूफ़ी दृष्टिकोणों, और अंत में सूफ़ी संतों और उनके दानदाताओं के बीच संबंधों पर प्रकाश डालती है।

मलफ़ूज़ साहित्य में दर्ज संतचरित उपाख्यानों से पता चलता है कि कैसे इस्लामी अतीत से पारंपरिक कहानियों को ग्रहण कर सूफ़ियों ने समकालीन परिस्थितियों का वर्णन किया और अपनी सैद्धांतिक स्थिति को आधार प्रदान किया। इस प्रकार, *ख़ैर-उल मजालिस* में नसीरुद्दीन चिराग देहलवी और *फ़वायद-उल फ़ुवाद* में शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया अतीत के संतों के जीवन की कहानियाँ सुनाते हैं ताकि उनसे नैतिक शिक्षा प्राप्त की जा सके और अपने श्रोताओं को प्रभावित किया जा सके।

संतचरित आख्यान सूफ़ी शेख़ों के चरित्र और उनके कृत्यों तथा उनके द्वारा स्थापित *मुरीदों* के समुदाय के आध्यात्मिक और भौतिक जीवन के आयामों के बारे में उपयोगी जानकारी प्रदान करते हैं।

संतचरितात्मक सामग्री का उपयोग सूफ़ी *सिलसिलों* और गैर-मुस्लिम धार्मिक समूहों के बीच, सूफ़ियों और *उलमा* के बीच, विभिन्न सूफ़ी *सिलसिलों* के बीच, और एक ही *सिलसिले* की विभिन्न शाखाओं के बीच भी वर्चस्व, अधिकार और प्रभाव स्थापित करने के लिए संबंधों, तनावों और प्रतिस्पर्धा को जानने के लिए किया जा सकता है। सूफ़ी शेख़ की प्रतिष्ठा और अपने प्रतिद्वंद्वियों के साथ प्रतिस्पर्धा कई सूफ़ी उपाख्यानों और संतचरित लेखनों का विषय है। ये कहानियाँ आध्यात्मिक क्षेत्राधिकार (*विलायत*) हेतु प्रतिस्पर्धा को दर्शाती हैं। इस प्रकार, जब किसी विशेष इलाके या क्षेत्र में उनके आध्यात्मिक सत्ता के प्रयोग करने के अधिकार को चुनौती दी जाती है, तो सूफ़ी संतों को चमत्कार करते हुए जैसे कि बाघ या दीवार की सवारी करते हुए, दर्शाया जाता था। सूफ़ियों और नाथपंथी *जोगियों* के बीच धार्मिक संवाद के कई क़िस्से सूफ़ी साहित्य में दर्ज हैं। इनमें से कुछ परस्पर भेंटों में, सूफ़ियों को चमत्कारों के प्रदर्शन में *जोगियों* पर हावी होते हुए दिखाया गया है, इस तरह के उपाख्यानों के पीछे मूल विचार *जोगियों* के मार्ग पर सूफ़ी पंथ की श्रेष्ठता साबित करना था।

तज़किरात और *मलफ़ूज़ात* के क़िस्से शेखों और शासकों के बीच संबंधों को भी उजागर करते हैं। एक सूफ़ी शेख़ अपनी अधिक्षेत्रीय *विलायत* पर आध्यात्मिक प्रभाव का दावा करता था, जो एक सुल्तान या राजा के राजनीतिक और सैन्य नियंत्रण में होता था। जैसा कि सायमन डिग्बी ने इंगित किया है, यह माना जाता था कि राज्य की शक्ति, समृद्धि और दीर्घजीविता शेख़ द्वारा प्रदान की गई आध्यात्मिक सुरक्षा से जुड़ी हुई थी। इसी तरह, राज्य के पतन को इस तरह के संरक्षण के हटने का परिणाम माना जाता था। अमीर खुर्द के *सियार-उल औलिया* जैसे *मलफ़ूज़ात* और संतचरित ग्रंथों में दिए गए उपाख्यानों में सौहार्दपूर्ण संबंध, परामर्श और यहाँ तक कि तनाव की कहानियाँ दर्ज हैं। ये कहानियाँ सूफ़ी संत के राजनीतिक प्रभाव पैदा करने और घटनाओं को आकार देने की क्षमता पर लोगों की आस्था को प्रकट करती हैं।

अधिकांश सूफ़ी संत जिनके नामों और कर्मों का उल्लेख संतचरित साहित्य में मिलता है, वे पुरुष सूफ़ी हैं। लेकिन महिला सूफ़ियों का भी अक्सर उल्लेख किया जाता है और उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियों का यशोगान किया गया है। प्रसिद्ध प्रारंभिक सूफ़ी महिला संत राबिया बसरी (मृ. 801) के जीवन के कथात्मक प्रसंगों का वर्णन संतचरित साहित्य का एक लोकप्रिय विषय था। उदाहरण के लिए, *खैर-उल मजालिस* में राबिया और उस समय के प्रमुख पुरुष सूफ़ियों के बीच विचारों के आदान-प्रदान के बारे में एक दन्तकथा है, जिसमें इस तपस्वी महिला संत ने उन पर अपना बौद्धिक और आध्यात्मिक वर्चस्व स्थापित किया था। एक और दिलचस्प उदाहरण, दारा शिकोह की *सफ़ीनत-उल औलिया* और *सकीनत-उल औलिया* में तत्कालीन महिला सूफ़ी संत बीबी जमाल ख़ातून (मृ. 1647) का संतचरितात्मक विवरण है। बीबी जमाल ख़ातून दारा शिकोह के आध्यात्मिक गुरु, कादिरी *सिलसिले* के मियाँ मीर, की बहन थीं, और यह विवरण उनके जीवनकाल में ही लिखा गया था। अपनी कृति *सकीनत-उल औलिया* में दारा शिकोह ने बीबी जमाल ख़ातून को 'अपने समय की राबिया' कहा है और लिखा है कि 'कई चमत्कार और करिश्मे उनसे प्रकट हुए और ऐसा अब भी जारी है' (अन्र्स्ट 2016: 4)।

सूफ़ी संतचरित लेखनों की तुलना से इनके लेखकों के विचारधारात्मक जुड़ाव का अंतर भी प्रकट होगा। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, क़ादिरी *सिलसिला* और उसके सूफ़ियों के निरूपण शुरुआती सत्रहवीं शताब्दी के दो संतचरितात्मक रचनाओं – अब्दुल हक़ मुहद्दिस देहलवी के *अख़बार-उल अख़्यार* और दारा शिकोह की *सकीनत-उल औलिया* – में काफ़ी भिन्न हैं। इसी प्रकार, एक ही संतचरित लेखक द्वारा दो अलग-अलग समयों में रचित अपनी दो अलग-अलग रचनाओं में प्रयुक्त लेखकीय और सम्पादकीय युक्ति संतचरित लेखक की बदलती धारणाओं को प्रकट करती है। यह दारा शिकोह द्वारा अपने दो संतचरित लेखनों में महिला सूफ़ी संतों पर विचार करने के तरीके से स्पष्ट होता है। जहाँ अपनी व्यापक जीवनीपरक कृति, *सफ़ीनत-उल औलिया*, में दारा शिकोह महिला सूफ़ियों का जीवन परिचय एक परिशिष्ट में देता है, वहीं अपनी दूसरी कृति में उसने बीबी जमाल ख़ातून, जिनका वह अत्यंत आदर करता था, के जीवन-वृत्तांत को ठीक मियाँ मीर के विवरण के बाद रखा है।

केवल इतना ही नहीं, भारतीय सूफ़ियों पर विपुल संतचरित साहित्य का अस्तित्व स्पष्ट रूप से सूफ़ी संतों और उनके पंथों की लोकप्रियता को प्रदर्शित करता है। इससे यह भी पता चलता है कि *तज़किरा* लेखकों और संकलन-कर्ताओं ने संतों के जीवन के लेखन और वाचन को अपने आप में पवित्र कार्य के रूप में माना क्योंकि उनका मानना था कि मृत संतों में ईश्वर के साथ उनकी निकटता के कारण

असाधारण आध्यात्मिक शक्ति (*बरका*) थी। एक सूफ़ी संत की करिश्माई शक्तियों और चमत्कार करने की उनकी क्षमता (*करामात*) में विश्वास स्पष्ट रूप से संतचरित लेखन में इंगित है। यह सत्य है कि सूफ़ी संतचरित लेखन का एक उपदेशात्मक उद्देश्य होता है और वे नैतिकता और नैतिक मूल्यों को विकसित करना चाहते हैं, लेकिन इस संदर्भ में *तज़किरात* और *मलफूज़ात* के बीच अंतर किया जाना चाहिए। अमूर्त विचारों वाले *मलफूज़ातों* के विपरीत, *तज़किरात* की कहानियाँ सीधे पाठकों या श्रोताओं तक संदेश पहुँचाती हैं और संतों की आध्यात्मिक शक्तियों का चित्रण करके उनके साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करती हैं। इसलिए, संतचरितात्मक सामग्री को न केवल कुछ आध्यात्मिक और नैतिक पाठों वाली कहानियों के रूप में देखना महत्वपूर्ण है, बल्कि उन सक्रिय शक्तियों के रूप में भी जिन्होंने लोगों के जीवन को बदल देने की सूफ़ी संतों की क्षमता में लोकप्रिय विश्वासों को आकार प्रदान किया।

बोध प्रश्न-2

1) सूफ़ी संतचरित साहित्य की कुछ विधाओं के नाम लिखिए।

.....

.....

.....

2) क्या *मलफूज़* साहित्य की दंतकथाओं को सूफ़ी संतचरित साहित्य का हिस्सा माना जा सकता है?

.....

.....

.....

3) संदिग्ध *मलफूज़ातों* का ऐतिहासिक स्रोतों के रूप में किस प्रकार से इस्तेमाल किया जा सकता है?

.....

.....

.....

4) सूफ़ी संतचरितों के ऐतिहासिक महत्व का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

.....

.....

.....

9.4 संतचरितात्मक भक्ति आख्यान

प्रस्तुत भाग में हम वैष्णवों तथा संतों के संचरितात्मक आख्यानों और उनके ऐतिहासिक महत्व पर चर्चा करेंगे।

9.4.1 वैष्णव संतचरित लेखन

मध्यकालीन संतों से संबंधित *परचई* (या *परचै*) परम्परा की शुरुआत को अनंतदास की रचनाओं में खोजा जा सकता है। उसने सोलहवीं शताब्दी के अंत में कबीर, रैदास, धन्ना और पीपा के संतचरितों की रचना की थी। सत्रहवीं शताब्दी की शुरुआत में लिखा गया नाभादास का *भक्तमाल* इस शैली के लेखन में वृद्धि के अन्य प्रमुख मुकाम का प्रतिनिधित्व करता है। नाभादास के *भक्तमाल* में दिए गए भक्तों के जीवनीपरक चित्रण और अनन्तदास की *परचईयों* में दिए गए विस्तृत वर्णन आने वाले दशकों तथा शताब्दियों में अत्यंत लोकप्रिय हो गए। भक्त कवियों पर बाद के काल में लिखे गए संतचरितात्मक लेखनों के लिए इन दो कृतियों ने मानक तय कर दिए थे।

अनंतदास की *परचईयाँ*: पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के संतों के अनुयायियों द्वारा उनके विख्यात जीवन चरित लिखना शुरू करने से पूर्व ही अनंतदास और नाभादास जैसे वैष्णव संतचरित लेखकों ने इन संतों की कथाओं का वर्णन करने की शुरुआत कर दी थी। इन महान् संतों की कथाओं का प्रथम ग़ैर-वैष्णव उल्लेख उन संतों की *बाणियों* (वचनों) में मिलता है जो दादू (1544-1603) की प्रथम

पीढ़ी के शिष्य थे। किंतु 17वीं शताब्दी की शुरुआत तक रामानंद के अनुयायियों में से दो वैष्णव संतचरित लेखकों – अनंतदास और नाभादास – द्वारा पहले ही कबीर, रैदास और शुरुआती काल के कुछ अन्य संतों के जीवनीपरक विवरण रचे जा चुके थे। इन दोनों में से अनंतदास विशेष रूप से कबीर, नामदेव, पीपा, धन्ना और रैदास के जीवन परिचय से सरोकार रखते थे, इन *परचईयों* की भाषा ब्रज और हिंदी की अन्य पश्चिमी बोलियों का मिश्रण है। इन सभी *परचईयों* का लेखक होने का श्रेय अनंतदास को दिया गया है, उनके द्वारा राजस्थान के रेवासा में स्थित रामानंदी मठ में रहते हुए इन सबकी रचना करने की अधिकतम संभावित तिथि सोलहवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में रखी जा सकती है। यद्यपि वे अपने धार्मिक जुड़ाव में वैष्णव थे, अनंतदास की निम्न जाति के संतों के प्रति गहरी सहानुभूति थी और उनकी *परचईयाँ* संभवतः इन संतों की जीवन कथाओं के संबंध में सर्वाधिक प्राचीन संकलन है।

कबीर *परचई* में अनंतदास द्वारा वर्णित प्रसंग इस प्रकार हैंः रामानंद द्वारा कबीर को अपने शिष्य के रूप में स्वीकारना, ईश्वर का उनके घर बैलगाड़ी में भोजन भर के लाना, उनके और ब्राह्मणों का कई बार आमना-सामना होना, अपनी बढ़ती लोकप्रियता से बचने के लिए उनका एक वेश्या के साथ रहना और परिणामस्वरूप ब्राह्मणों और स्थानीय शासक से उनका सामना होना, ब्राह्मणों के साथ निरंतर कटु संबंध और ब्राह्मणों और *क़ाज़ियों* के बचाव में सिकंदर लोदी का आना, सिकंदर लोदी द्वारा विभिन्न तरीकों से कबीर का उत्पीड़न करना, कबीर का चमत्कारिक ढंग से बच निकलना और अंततः सुल्तान द्वारा उनकी महानता को स्वीकारना, कबीर की दृढ़ भक्ति के समक्ष अप्सरा द्वारा उनको मोहित करने के प्रयास का असफल रहना और अंततः ईश्वर द्वारा कबीर को अपना दर्शन देना। इसी प्रकार रैदास *परचई* में रैदास के जीवन के प्रसंगों का वर्णन इस प्रकार किया गया हैः ब्राह्मण के रूप में रैदास का पिछला जन्म, उनका निम्न जाति के चर्मकार परिवार में जन्म, रामानंद द्वारा उन्हें शिष्य बनाया जाना, ईश्वर (हरि) द्वारा दिए गए पारस पत्थर को अस्वीकार करना, राज दरबार में ब्राह्मणों के साथ उनका सामना एक 'राजनीतिक प्रसंग' के रूप में, शालिग्राम की पूजा करने के अधिकार को लेकर उनका ब्राह्मणों से सामना, उनके द्वारा झाली रानी को अपने शिष्य के रूप में स्वीकारना जिसका परिणाम ब्राह्मणों के साथ एक अन्य विवाद में निकला, कबीर के साथ विमर्श, उनके द्वारा चित्तौड़ की यात्रा और भोज के दौरान स्वयं को एक से अधिक रूपों में प्रकट करना और अंततः अपने भीतर से ही स्वर्ण यज्ञोपवीत को निकालकर राजा और ब्राह्मणों तथा अन्य के सामने दिखाना।

नाभादास की *भक्तमाल*ः नाभादास ने *भक्तमाल* ('भक्तों की माला') की रचना की, जो वैष्णव संतचरित लेखन के क्षेत्र में एक महान् कृति है और बाद के काल में भक्ति संतचरित साहित्य के लिए पथ-प्रदर्शक रही है। इसकी रचना 17वीं शताब्दी की शुरुआत में की गई थी। नाभादास और अनंतदास पहले दो वैष्णव संतचरित लेखक थे जो कबीर तथा अन्य संतों के भक्तिमय कृत्यों का वर्णन करते हैं। नाभादास का *भक्तमाल* पौराणिक और ऐतिहासिक भक्तों का साथ में प्रस्तुत प्रथम प्रमुख वृत्तांत हैं। नाभादास उन भक्तों के प्रति सहानुभूति रखते थे जिन्होंने अपनी साधारण पृष्ठभूमि के बावजूद ख्याति पाई थी। नाभादास का *भक्तमाल* वास्तव में कोई जीवनीपरक कृति नहीं है, और न ही यह भक्तों के जीवन के संबंध में बहुत से प्रसंग प्रस्तुत करती है। यह वैष्णव भक्तों का एक लेखा-जोखा है। वे कुछ भक्तों के व्यक्तिगत जीवन के कुछ प्रसंगों का उल्लेख करते हैं। तथापि, ये संदर्भ संक्षिप्त हैं और पाठक या श्रोता से इन घटनाओं के संदर्भ में कुछ हद तक पूर्व ज्ञान की आशा करते हैं। नाभादास इन भक्तों के जीवन प्रसंगों की अपेक्षा उनके विचारों, मूल्यों और शिक्षाओं के संदर्भ में उनका महिमामंडन करते हैं। अनंतदास की *परचईयों* के विपरीत, इसमें कबीर और रैदास के जीवन की वास्तविक या काल्पनिक घटनाओं का कोई उल्लेख नहीं है। पौराणिक भक्तों का उल्लेख तो और भी संक्षिप्त है, और केवल उनके नामों का संदर्भ दिया गया है, किंतु भक्तों के नामों की संख्या काफ़ी विस्तृत है।

प्रियादास की *भक्तिरसबोधिनी टीका*ः *भक्तिरसबोधिनी टीका* की रचना प्रियादास द्वारा ब्रजभाषा में 18वीं शताब्दी की शुरुआत में की गई थी। यह रचना मुख्यतः नाभादास के *भक्तमाल* से प्रेरित है, किंतु प्रियादास द्वारा कबीर और अन्य संतों के विषय में दी गई कथात्मक जानकारियों में अनंतदास के द्वारा लिखित संतचरित साहित्य से भी बहुत कुछ ग्रहण किया गया है। प्रियादास का संबंध वैष्णवों के चैतन्य संप्रदाय से था। अपने दो पूर्वगामियों की तरह उन्होंने संतों के जीवन का बखान करते समय एक सामान्य और उदार दृष्टिकोण अपनाया है। प्रियादास इस पर बल देते हैं कि चाहे कोई भक्त कितना

ही संपूर्ण रूप से अपनी भक्ति में समर्पित हो उसे अवश्य ही नाभादास की *भक्तमाल* को हृदय में धारण करना चाहिए ताकि भक्ति की वास्तविक प्रकृति को वह ग्रहण कर सके। *भक्तिरसबोधिनी टीका* का ऐतिहासिक महत्व इसके नाभादास के *भक्तमाल* के विस्तारित रूप होने में है। चूँकि प्रियादास की *टीका* नाभादास की कृति के सामने आने के 100 वर्ष बाद लिखी गई थी, प्रियादास उन कथाओं को शामिल करने में समर्थ हुआ था जो 17वीं शताब्दी में उभर रही थीं।

***वार्ता* साहित्यः** *चौरासी वैष्णवन की वार्ता* ('चौरासी वैष्णवों के वृत्तांत') और *दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता* ('दो सौ बावन वैष्णवों के वृत्तांत') *पुष्टिमार्ग* के दो महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। उन्हें ब्रजभाषा के गद्य में लिखा गया है, *चौरासी वैष्णवन की वार्ता* वल्लभाचार्य (1479-1531) के आदर्श अनुयायियों में से चौरासी भक्तों के जीवन के कुछ निश्चित प्रसंगों की कथा को समाहित करती है। इसी प्रकार *दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता* विट्ठलनाथ (1515-1564) के 252 श्रेष्ठ अनुयायियों के जीवन के कुछ निश्चित प्रसंगों को अपने विषय के रूप में ग्रहण करती है। यह दोनों *वार्ताएँ पुष्टिमार्ग* के अनुयायियों में आवश्यक गुणों की व्याख्या करती हैं। *पुष्टिमार्ग* की परम्परा के अनुसार इन्हें विट्ठलनाथ के चौथे पुत्र (वल्लभाचार्य के पौत्र) गोकुलनाथ (1551-1647) द्वारा मौखिक कथाओं के रूप में रचा गया था। यह कथाएँ हरिराय द्वारा ब्रज-गद्य में दर्ज की गई हैं, जो गोकुलनाथ के शिष्य थे। बाद की तिथि में, संभवतः 17वीं शताब्दी के आख़िरी दौर में, हरि राय ने इन दो *वार्ताओं* को अंतिम स्वरूप प्रदान किया और इसमें अपनी टीकाएँ जोड़ीं। इस प्रकार ये *वार्ताएँ* मध्य और अंतिम 17वीं शताब्दी के संतचरित साहित्य-स्रोतों के रूप में देखी जानी चाहिए। शार्लोट वॉडविले के अनुसार 'ये *वार्ताएँ* एक प्रकार की धर्म कथाएँ या धर्म गाथाओं के रूप में देखी जानी चाहिएं, जिस तरह से बौद्ध और जैन साहित्य में पाई जाती हैं'।

9.4.2 संतचरित लेखन

जन गोपाल की *दादू जन्म लीला*: जन गोपाल की *दादू जन्म लीला* 1603 में दादू की मृत्यु के दो दशक बाद लिखी गई थी। यह कृति, जो प्रथम संपूर्ण संतचरित वृत्तांत है, बाद के समय में कई क्षेपकों को इसमें जोड़ा गया। जन गोपाल दादू के शिष्य थे, इस संप्रदाय के अंतरंग सदस्य, जो दादू के आंदोलन से घनिष्ठता के साथ जुड़े हुए थे। इस अर्थ में उनका वृत्तांत मध्यकालीन संत परम्परा के संबंध में किसी संत द्वारा स्वयं लिखा गया पहला इतिहास समझा जा सकता है। इसमें सीकरी के प्रसंग – जो दादू और अकबर के बीच भेंट के विख्यात क़िस्से को वर्णित करता है – ने विशेष रूप से मध्यकाल में संतों और शासकों के संबंध से सरोकार रखने वाले विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है।

दादूपंथी *भक्तमालाएँ*: दादू पंथ के अनुयायियों द्वारा रची गईं तीन प्रमुख संतचरितात्मक कृतियों में जग्गा, चैन और राघोदास की *भक्तमाल* शामिल हैं। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण संत परम्परा की *भक्तमाल* कृतियों में राघव दास की *भक्तमाल* हैं। राघोदास की *भक्तमाल*, नाभादास की *भक्तमाल* के पैटर्न पर लिखी गई है। अधिकतम संभावना यह है कि या तो इसे 17वीं शताब्दी के आखिर में लिखा गया था या 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में। इसमें बारह सौ संतों पर विचार किया गया है। इनमें से अधिकांश दादू और अन्य महान् संतों के अनुयायी थे। इस पर टीका 1800 सी ई में चतुरदास द्वारा लिखी गई थी। दादूपंथी परम्परा में एक अन्य प्रमुख *भक्तमाल* ब्रह्मदास द्वारा लिखा गया है।

***जनम साखी* साहित्यः** *जनम साखियाँ* गुरु नानक के जीवन का संतचरितात्मक वृत्तांत हैं। कई विद्वानों ने गुरु नानक के ऐतिहासिक जीवन की पुनर्रचना के संदर्भ में *जनम साखी* साहित्य के ऐतिहासिक महत्व का आकलन किया है। किंतु हाल में यह देखा गया है कि यद्यपि *जनम साखी* को गुरु नानक के जीवन के संदर्भ में ऐतिहासिक स्रोत के रूप में पूर्णतः नहीं नकारा जा सकता है, उनका प्राथमिक मूल्य आरंभिक सिख समुदाय की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के संबंध में अंतर्दृष्टि प्रदान करने को लेकर अधिक है। इन *जनम साखी* संतचरितात्मक लेखनों में गुरु नानक की पंजाब के सूफ़ियों, जिनमें शेख़ फ़रीदुद्दीन गंज-ए शकर शामिल हैं, से भेंट के कई वर्णन शामिल हैं। चूँकि शेख़ फ़रीद और गुरु नानक की तिथियों में 200 सालों का अंतर है, विद्वानों ने उचित ही इस प्रकार की किसी भेंट की संभावना को खारिज किया है। यद्यपि यह प्रतीत होता है कि गुरु नानक ने मुल्तान की यात्रा की थी और शेख़ फ़रीद की *ख़ानकाह* में उनके वंश के प्रमुख (*सज्जादानशीं*) से मुलाकात की थी।

कबीरपंथी संतचरित लेखनः *सागर* और *बोध* साहित्यः अधिकतर कबीरपंथी साहित्य कई प्रकार के *सागर* और *बोधों* से मिलकर बना है। इनमें से अधिकांश की रचना 19वीं शताब्दी में हुई थी। यद्यपि

अनुराग सागर की रचना 18वीं शताब्दी के आख़िर में हुई मानी जाती है, यह छत्तीसगढ़ के कबीरपंथियों द्वारा लिखा गया सबसे पहला ग्रंथ है। इस कृति ने जल्दी ही विभिन्न स्वरूप ग्रहण किए और इसमें कई क्षेपक जोड़ दिए गए थे। इस कृति का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि यह दुनिया और समय के विषय में कबीरपंथियों की शुरुआती धारणाओं को सामने रखती है। इसमें पूर्व के युगों में हुए कबीर के विभिन्न अवतारों का भी उल्लेख है।

9.4.3 भक्ति संतचरित लेखन का ऐतिहासिक महत्व

इस इकाई के 'इतिहास के स्रोत के रूप में संतचरित साहित्यः समस्याएँ और संभावनाएँ' भाग में हमने भक्ति और सूफ़ी संतचरित लेखन सामग्री के ऐतिहासिक स्रोत के रूप में प्रयोग करने की समस्याओं की चर्चा की है। भक्ति संतचरितात्मक लेखन के संदर्भ में इनके ऐतिहासिक मूल्य को निर्धारित करने में एक विशिष्ट समस्या को देखा था। *पुष्टिमार्गी* वैष्णवों के *पुष्टिमार्गी वार्ता* साहित्य को छोड़कर क्षेत्रीय भक्ति साहित्य काव्य रूप में लिखा गया है। सामान्यतः यह माना जाता है कि गद्य की भाषा स्पष्ट और पारदर्शी होती है और इस प्रकार यह संचार और अभिव्यक्ति का अधिक प्रभावी तरीका है। वहीं दूसरी ओर, पद्य को भाषा के साथ खेलने और प्रयोग करने वाला माना जाता है। गद्य की भाषा के विपरीत, इसकी भाषा को अपारदर्शी, लक्षणा प्रधान और भ्रामक माना जाता है। लेकिन भक्ति संतचरितात्मक लेखकों द्वारा पद्य के प्रयोग काव्यात्मक आख्यानों के इस गुण से अलग नहीं हैं। इन संतचरितात्मक काव्यों की भाषा सहज और संचार में दक्ष है। इन संतचरितात्मक लेखकों ने अपने श्रोताओं को प्रभावित करने के लिए प्रत्यक्ष रूप में संबोधित किया है। इस ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि गद्य तथा काव्यात्मक रचनाओं, दोनों, में ही राजनीति और आलंकारिकता को अलग नहीं किया जा सकता है। चाहे गद्य में लिखा गया हो या पद्य में, प्रत्येक ग्रंथ के कल्पनात्मक और आलंकारिक आयाम होते हैं। साहित्यिक प्रक्रियाओँ और सांस्कृतिक परिघटनाओँ का उद्देश्य पाठकों और श्रोताओं की प्रतिक्रिया की दिशा तय करना भी होता है। अतः इन कथावाचकों और उनके श्रोताओं की विचार पद्धतियों को समझने के दृष्टिकोण से ये स्रोत गद्य में लिखित स्रोतों के समान ही महत्वपूर्ण हैं।

जैसा कि आप पहले ही पाठ्यक्रम **बी एच आई सी-107** में संत भक्ति और वैष्णव भक्ति परम्परा के विषय में पढ़ चुके हैं, कबीर, रैदास, धन्ना, सेन और कई गैर-ब्राह्मणीय संत निर्गुण भक्ति (निराकार और अन-अवतरित ईश्वर की उपासना) में विश्वास रखते थे। गुरु नानक भी *निर्गुण* भक्ति के प्रतिपादक थे। वहीं दूसरी ओर, चैतन्य, वल्लभाचार्य, शंकरदेव, मीराबाई, नरसी मेहता, सूरदास, एकनाथ और तुलसीदास जैसे वैष्णव आचार्य और भक्त *सगुण* भक्ति (भगवान विष्णु के अवतारों या राम या कृष्ण के प्रति समर्पण) का पालन करते थे। वैष्णव संतचरित लेखकों जैसे नाभादास, अनंतदास और प्रियादास के दोहरे निरूपण में कबीर और अन्य निर्गुण संतों का ईश्वर के धर्मभीरू भक्तों के रूप में चित्रण किया गया है और उनकी भक्ति की उपलब्धियों का महिमामंडन किया है। वहीं दूसरी ओर, कबीरपंथ और दादूपंथ से जुड़े संतों के संतचरित लेखकों ने वैष्णव प्रतीकों का अपने आख्यानों में प्रवाहपूर्ण प्रयोग किया है। इस तरह की प्रवृत्तियों के अस्तित्व ने आधुनिक विद्वानों के इस तर्क को प्रेरित किया है कि भक्ति संतचरित लेखनों में कबीर तथा अन्य ग़ैर-ब्राह्मणीय संतों के 'वैष्णवीकरण', 'संस्कृतिकरण' और 'हिंदूकरण' की प्रक्रिया कार्य कर रही थी। किंतु इस साहित्य के ऐतिहासिक महत्व का उचित आकलन करने के और भी अन्य तरीके हैं। इसलिए, कबीर की ऐतिहासिक कथाओं के प्रमुख विद्वान डेविड लॉरेंज़न यह तर्क देते हैं कि चमत्कारिक कहानियों को 'सक्रिय ऐतिहासिक शक्तियों' के रूप में देखना चाहिए, जिनके माध्यम से किसी संत के अनुयायियों ने एक साझे अतीत और विश्व दृष्टि की रचना की तथा इस तरह प्रकारांतर से ये समुदाय और उसकी पहचान का निर्माण करने के लिए आवश्यक परिस्थिति थी (लॉरेंज़न 1991: 8)। विनांद एम. कालेवर्त, एक अन्य विद्वान जिन्होंने संतों की कथाओं पर विस्तृत अनुसंधान किया है, संतचरित लेखन के आख्यानों को '16वीं शताब्दी के सामाजिक और धार्मिक विचारों के चलचित्र' के रूप में ग्रहण करते हैं (कालेवर्त 2000: 2)। संतों के संतचरित लेखकों द्वारा प्रयुक्त रूपांकनों और कथानकों को कई भारतीय मिथकों के सामान्य रूप से प्रचलित भंडार से ग्रहण किया गया है, लेकिन इन कथानकों और रूपांकनों को किस प्रकार चुना गया और किन पर विशेष रूप से बल दिया गया, यह इन कथाओं के वाचक और श्रोताओं की सामाजिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकता को प्रकट करता है।

अनंतदास की *परचईयाँ* और प्रियादास के कबीर और अन्य महान् संतों पर रचित संपूर्ण कथात्मक वृत्तांत को वैष्णव संतचरित लेखकों द्वारा इनकी स्मृति को समाहित करने और उन्हें वैष्णवों के रूप में निरूपित करने के प्रयास के रूप में देखा जा सकता है। यह निर्वचन करना मुश्किल नहीं है कि अनंतदास और प्रियादास द्वारा वर्णित कथात्मक प्रसंगों में वैष्णव झलक है। यद्यपि इनमें से बहुत सी कहानियाँ, विशेष रूप से जो एक ओर इन मुख्यधारा की परम्परा से भिन्न संतों और दूसरी ओर धार्मिक संस्थाओं, विशेष रूप से ब्राह्मणों और *क़ाज़ी* तथा शासकों के बीच हुए टकराव पर विचार करती हैं, संभवतः सबसे पहले इन संतों के अनुयायियों के बीच उभरी होंगी जब 16वीं तथा 17वीं शताब्दियों में कबीर और रैदास जैसे महान् संतों की लोकप्रियता में वृद्धि हुई तो उनके विषय में कई कथाओं का विकास निचले स्तर पर हुआ। इनके प्रति सहानुभूति रखने वाले वैष्णव संतचरित लेखकों ने इन दंतकथात्मक प्रसंगों को वैष्णव आख्यान के ढाँचे और स्वरूप में शामिल किया, बिना उनके सारतत्व में परिवर्तन किए।

मुग़ल काल में लिखे गए वैष्णव और संतचरितात्मक ग्रंथ दोनों ही भक्ति के धार्मिक समता के चरित्र को सामने लाते हैं। यद्यपि वैष्णव संतचरित लेखनों में से अधिकांश, जैसे वैष्णव भक्ति काव्य जाति आधारित सामाजिक पदानुक्रम को स्वीकार करते हैं, संतों से संबंधित संतचरित लेखन अपनी संपूर्णता में और कुछ वैष्णव संतचरित ग्रंथ, जैसे अनंतदास की *परचईयाँ,* नाभादास की *भक्तमाल* और प्रियादास की *भक्तिरसबोधिनी टीका* का प्रयोग यह दर्शाने के लिए किया जा सकता है कि किस प्रकार नामदेव, कबीर और रैदास जैसे महान् संतों के प्रशंसकों और अनुयायियों ने इनकी छवि को प्रचलित मुख्यधारा के मत से असहमति रखने वालों और स्थापित धार्मिक कुरीतियों को उलटने वालों के रूप में गढ़ा। नाभादास के *भक्तमाल* (*c*. 1600) में से इस निम्नलिखित उद्धरण को उद्धृत करते हुए यह देखा जा सकता है कि उदार वैष्णव कथावाचक ने किस प्रकार कबीर को ग्रहण किया है:

> कबीर ने जाति-भेद की व्यवस्था को नकार दिया और साथ ही चार *आश्रमों* और दर्शन के छः सिद्धांतों को भी। उनका विश्वास था कि भक्ति या समर्पण के बिना धर्म, *अधर्म* समान है। उन्होंने संन्यास, उपवास और दान-दक्षिणा के व्यर्थ होने पर भी बल दिया यदि इनके साथ *भजन* या नाम-जप का अनुसरण न किया जाए। उन्होंने हिंदुओं और तुर्कों (मुस्लिमों) को *रमैनी, सबद* और *साखियों* के माध्यम से इसी सत्य की शिक्षा दी। उन्होंने किसी के प्रति भेदभाव नहीं दिखाया और सभी वर्गों के लाभ के पक्ष में उपदेश दिया। उन्होंने अपने मतों को सत्य के अनुरूप ही प्रस्तुत किया और दुनिया को प्रसन्न करने के नज़रिए से कुछ भी नहीं कहा।
>
> **नाभादास श्री *भक्तमाल*, प्रियादास की *भक्तिरसबोधिनी टीका* के साथ, लखनऊः तेजकुमार बुक डिपो, 1993, पृष्ठ 479**

नाभादास के *भक्तमाल* में कबीर का विवरण समकालीन हिंद-फ़ारसी ग्रंथों जैसे अबुल फ़ज़ल की *आईन-ए अकबरी* और सूफ़ी संतचरित साहित्य *अखबार-उल अख़्यार* में जिस प्रकार उनका संदर्भ आया है, उससे पर्याप्त समरूपता रखता है। नाभादास की *भक्तमाल* में प्रस्तुत विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने एक सर्वग्राही वैष्णव धर्म की छवि गढ़ने की अपनी उदार रणनीति का अनुसरण किया, जिसमें कबीर जैसे संतों का प्रमुख स्थान था। यह रणनीति 16वीं और 17वीं शताब्दियों के रामानंदी समुदाय के समतापूर्ण चरित्र के साथ पूर्ण रूप से मेल खाती थी। इसमें यह अधिक महत्वपूर्ण है कि नाभादास ने चार भागों में विभाजित वैष्णव समुदाय का दृष्टिकोण रखा (*चतुह संप्रदाय*) जिसमें सभी वैष्णव भक्तों को वर्गीकृत किया जा सकता था। यह उपागम बाद के भक्ति संतचरित लेखकों तथा सिद्धांतवादियों द्वारा अधिक ठोस रूप से सामने रखा गया और आरंभिक 18वीं शताब्दी के राजपूत राजा सवाई जय सिंह (r. 1700-1743) द्वारा इसे आधिकारिक स्वीकृति प्रदान की गई।

कबीर और अन्य महान् संतों के विषय में यह दंतकथाएँ उनकी मृत्यु के बाद बड़ी संख्या में सामने आने लगीं और 17वीं तथा 18वीं शताब्दियों के दौरान उन्होंने विस्तृत और व्यापक स्वरूप ग्रहण कर लिया। इस प्रकार संतचरितात्मक ग्रंथ भक्ति के नायकों के संबंध में बदलते हुए दृष्टिकोण के संबंध में महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं। ये हमें कथावाचकों की रणनीतियों और सरोकारों को समझ पाने में समर्थ बनाते हैं। इन संतों के जीवन के विभिन्न प्रसंगों के आख्यान इनके अनुयायियों की सामूहिक चेतना को प्रकट करते हैं और इसी के साथ उनकी चेतना को आकार देने में एक सक्रिय भूमिका निभाते हैं। संतों का संतचरित साहित्य महान् ग़ैर-ब्राह्मणी संतों, जैसे कबीर, रैदास और दादू की कृतियों के दंतकथात्मक वर्णन को प्रस्तुत करता है। इन कथाओं में, इन संतों को अनवरत रूप

से ईश्वर के निर्भीक भक्तों के रूप में दर्शाया जाता है जिन्होंने सामाजिक आदर्शों को चुनौती दी और राजनीतिक पदानुक्रम को कमज़ोर बनाया। उदाहरण के लिए, कबीर और सिकंदर की भेंट तथा दादू द्वारा अकबर के दरबार में चालीस दिन तक प्रवचन की कहानियाँ हमें देखने को मिलती हैं। यह वृत्तांत सामान्यतः शासकों और धार्मिक संस्थाओं के साथ तीर्थ केंद्रों, दरबारों और बाज़ारों में होने वाले टकरावों में इन संतों की आध्यात्मिक विजय के लोकप्रिय यशोगान के साथ समाप्त होते हैं। यह दंतकथात्मक आख्यान हैं और इन प्रसंगों का वास्तव में घटित होने का कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है, किंतु यह तथ्य इन वृत्तांतों और ऐसी ही अन्य विवरणों के ऐतिहासिक मूल्य को कम नहीं करता है क्योंकि यह हमें संतों से प्रेरित 16वीं और 17वीं शताब्दियों की लोकप्रिय संस्कृति की मुख्य विशेषताओं को समझने में सहायता करते हैं।

संत चरित लेखन और अनंतदास, नाभादास और प्रियादास के वैष्णव संतचरित वृत्तांतों को भक्ति की दृढ़ निष्ठा, संघर्ष और इन महान् भक्तों की अंततः सफलता के इतिहास के रूप में देखा जा सकता है। नाभादास ने एक सर्व-समावेशी किंतु संक्षिप्त, अतीत और और वर्तमान के भक्ति के महान् प्रतिपादकों का इतिहास लिखा, जिसमें पौराणिक अतीत भी शामिल है और उन्हें विभिन्न कालानुक्रमिक व धार्मिक श्रेणियों में श्रेणीबद्ध किया। लगभग एक शताब्दी बाद प्रियादास ने इस इतिहास को विस्तृत और संशोधित किया, अपनी टीका में नई जानकारियों को दर्ज करते हुए और अपने पूर्वगामी के वृत्तांत में बिना छेड़छाड़ किए, जो अपने मूल रूप में बना रहा। संयुक्त रूप से ये दोनों कृतियाँ – नाभादास की *भक्तमाल* और प्रियादास की *भक्तिरसबोधिनी टीका* – सभी युगों और सभी मतों के वैष्णव भक्तों का व्यापक इतिहास रचती हैं।

वहीं दूसरी ओर, जग्गा, चैन और राघोदास का संत चरित साहित्य, अपने *भक्तमालों* में, 'भक्तों' और 'संतों' के एक सार्वभौमिक इतिहास को प्रस्तुत करते हैं। इस इतिहास ने पौराणिक तथा तत्कालीन भक्ति संतों और पैगंबरों, सूफ़ी संतों तथा अन्य भक्तों को समाहित किया है। संतचरित लेखकों ने 'तुर्क संतों' की एक लंबी सूची प्रस्तुत की है, जिसमें प्रख्यात सूफ़ी जैसे राबिया, मंसूर अल-हज्जाज और शेख़ फ़रीद भी शामिल हैं। इतिहास की इस परिकल्पना में ध्रुव और प्रह्लाद जैसे पौराणिक चरित्र, कबीर जैसे आरंभिक संत और दादू जैसे बाद के संत विभिन्न कालों में भक्ति के अनुक्रमिक ध्वजवाहक रहे हैं। संतों के संतचरित साहित्य में, प्रह्लाद, सर्वाधिक उत्पीड़ित किंतु साहसिक पौराणिक चरित्र, को आदर्श भक्त के रूप में निरूपित किया गया है। कबीर जैसे महान् संतों के कृत्यों को प्रह्लाद के एक-निष्ठ समर्पण के समतुल्य बताया गया है। जब संतचरित लेखकों ने बाद के संतों की कहानियों का वर्णन किया तो कबीर तथा अन्य शुरुआती संतों, जैसे नामदेव को आदर्श भक्तों के रूप में प्रस्तुत किया गया। अगर हम इन संतचरित आख्यानों को इस काल की भक्ति कविता में अतीत के समर्पित भक्तों के संक्षिप्त उल्लेख के साथ रख कर देखें और इनका संयुक्त पाठ करें तो हम अतीत के संत और वैष्णव दृष्टिकोण का बेहतर अंदाज़ा लगा पाएँगे।

नाभादास, राघोदास और प्रियादास के भक्ति संतचरित साहित्य और *पुष्टिमार्गीय वार्ता*-साहित्य कई महिला भक्तों के नामों का उल्लेख करते हैं और वैष्णव भक्ति के विकास में उनके योगदान पर बल देते हैं। राघोदास, नाभादास और प्रियादास मीराबाई के भक्तिपूर्ण कृत्यों और दृढ़ता का महिमामंडन करते हैं। *पुष्टिमार्गीय* संतचरित लेखकों की पंथ आधारित मनोवृत्ति उन्हें मीराबाई की भक्ति की उपलब्धियों की प्रशंसा करने की अनुमति नहीं देती थी। यद्यपि *वार्ताओं* में कई महिलाओं की प्रशंसा की गई है, जिन्होंने *पुष्टिमार्ग* का अनुसरण किया और इसकी सफलता में भूमिका निभाई। इन आख्यानों के माध्यम से संतचरित लेखकों ने आदर्श महिला भक्तों की छवि को गढ़ा। इस प्रकार यह आख्यान भक्ति आंदोलन में लैंगिक संबंधों के इतिहास के अन्वेषण हेतु अत्यंत महत्व रखते हैं।

भक्ति संतचरित साहित्य जैसे *जनम साखी*, वैष्णव *वार्ताएँ, गोष्ठी* और *संवादों* का विकास, बाद के काल में धार्मिक अंतर-संवाद, सामुदायिक पहचानों की निर्मिती और इन सबके बीच सीमाओं के निर्माण, किसी संतचरित साहित्य में कुछ भक्तों के समूह का समावेश और कुछ अन्य को बाहर रखने एवं इन संतचरित लेखकों की अपनी विचारधारा और धार्मिक आसक्तियों पर रोशनी पड़ती है। इस प्रकार, जहाँ कि संत चरित साहित्य, जिसका उदय दादूपंथ में हुआ था, व्यापक आधार लिए हुए है और सभी धार्मिक परंपराओं से भक्तों को समाहित करता है, वहीं *वार्ता* साहित्य में संतचरित लेखकों द्वारा *गैर-पुष्टिमार्गीय* भक्तों को सप्रयास बाहर रखना उनके सांप्रदायिक अभिमूल्य का संकेत करते हैं।

अपनी कृतियों में अन्य वैष्णव संतचरित लेखक उन महान् संतों के वृत्तांत को शामिल करते हैं जिन्हें रामानंद के शिष्य के रूप में देखा जाता था किंतु नाथपंथी और गुरु नानक तथा अन्य सिख गुरुओं को शामिल नहीं करते हैं। वैष्णव संतचरित लेखक भक्तों की श्रेणी से सूफ़ियों के नामों को भी बाहर ही रखते हैं। यद्यपि वे कृष्ण के कई ग़ैर-सूफ़ी मुस्लिम भक्तों की प्रशंसा करते हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, ऐसे कुछ सूफ़ी संतचरित लेखकों के उदाहरण है जिनमें कबीर के जीवनीपरक विवरणों और उनकी रचनाओं को शामिल किया गया है, किंतु अधिकांशतः वे अन्य संतों और वैष्णव भक्तों का उल्लेख नहीं करते हैं। यद्यपि गोरखनाथ, जिन्हें नाथ पंथ के संस्थापक के रूप में देखा जाता है, का इस काल के सूफ़ी प्रेमाख्यानों में श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया गया है।

वार्ता साहित्य के ऐतिहासिक महत्व के संबंध में यह कहा जा सकता है कि *पुष्टिमार्गी* संप्रदाय के आंतरिक आयाम पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त यह वल्लभ संप्रदाय की रूढ़िवादी ब्राह्मणीय समूहों के प्रति अभिवृत्ति, वैष्णव संप्रदायों के बीच परस्पर प्रतिस्पर्धा, मुग़ल राजनीतिक सत्ता और वैष्णवों के बीच संबंध और वैष्णव अनुयायियों के राजनीतिक दृष्टिकोण के संबंध में महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करता है। हालांकि, इस संकल्पना की दृष्टि से *वार्ताओं* का प्राथमिक महत्व महिलाओं और निम्न जातियों के धार्मिक दृष्टिकोण, वैष्णव प्रचारकों और उनके निम्न जातीय तथा महिला शिष्यों के बीच संबंध के अध्ययन हेतु महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध कराने में है। उपर्युक्त दो *वार्ता* संकलनों में कई प्रसंग ऐसे वैष्णवों के संदर्भ में हैं, जिनमें महिलाओं सहित, कुनबी, धोबी और माली जैसे कई 'निम्न' जाति के भक्त भी शामिल हैं। इस प्रकार *वार्ता* साहित्य उत्तर मध्य कालीन भारत में 'निम्न' जातियों की धार्मिकता की पुनर्रचना के लिए महत्वपूर्ण स्रोत है।

बोध प्रश्न-3

1) कुछ वैष्णव संतचरित ग्रंथों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

2) संत चरित साहित्य की प्रकृति की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

3) भक्ति संतचरित साहित्य के ऐतिहासिक मूल्य पर एक निबंध लिखिए।

.....

.....

.....

9.5 भक्ति काव्य

15वीं और 18वीं शताब्दियों के बीच का समय उत्तर भारत और दक्खन में स्थानीय/क्षेत्रीय भाषाओं में भक्ति और सूफ़ी काव्य की प्रचुर वृद्धि का साक्षी रहा है। संतों और वैष्णव भक्तों ने अपने भक्ति भाव तथा सामाजिक-धार्मिक विश्वदृष्टि को अभिव्यक्त करने हेतु विभिन्न छंदों में कविताओं की रचना की। उनकी कविताओं की संगीतमय प्रस्तुति ने घुमंतू भक्ति गायकों और साधकों का एक वर्ग पैदा किया। इस प्रकार और अन्य तरीकों से भक्ति गीत मुग़ल भारत में सभी स्थानों पर फैलते गए और इन्होंने भक्ति-आधारित इन आंदोलनों और इन आंदोलनों से जुड़े हुए कवियों की लोकप्रियता में अपार वृद्धि की। इसी प्रकार क्षेत्रीय और स्थानीय सूफ़ी कवियों और संतों ने स्थानीय/क्षेत्रीय भाषा में लघु भक्ति काव्य और विस्तृत सूफ़ी *प्रेमाख्यान* लिखे, धार्मिक पुण्य कमाने और समाज के विभिन्न वर्गों के बीच सूफ़ी विचारों के प्रसार करने के लिए। ऐसा करते हुए उन्होंने सूफ़ी सिद्धांतों को स्थानीय परिवेश और संस्कृति के मुताबिक ढाला। भक्ति और सूफ़ी काव्य विभिन्न प्रकार के विषयों और मुद्दों को समाहित करते हैं और इसी कारण ये इस काल के धार्मिक और सामाजिक इतिहास लिए महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। किंतु इतिहास के स्रोतों के रूप में अपने महत्व से परे ये रचनाएँ भक्ति और सूफ़ी

विचारों को लोगों के बीच प्रसारित करने का महत्वपूर्ण माध्यम रही हैं, इन्होंने मुग़ल साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में लोगों की धार्मिक-सांस्कृतिक और साहित्यिक चेतना को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

9.5.1 संत काव्यः संतों की *बाणी*

नामदेव, कबीर, रैदास, दादू, इत्यादि महान् संत और बाद के संतों जैसे, रज्जब, दरिया साहिब (बिहार), गरीबदास, चरणदास, पलटू और तुलसी साहिब (हाथरस के), ने अपनी भक्ति की भावनाओं, भावों, धार्मिक विचारों और सामाजिक-राजनीतिक दृष्टियों को अपनी *बाणियों* में अभिव्यक्त किया है। कबीर और प्रारंभिक चरण के अन्य संत 'निम्न' सामाजिक वर्गों से आने वाले, अशिक्षित शिल्पकार और किसान थे। उन्होंने अपनी कविताओं को बोलचाल की हिंदी में मौखिक रूप से रचा। यदि प्रामाणिक *मलफ़ूज़ात* सूफ़ी संतों के प्रवचनों का लिखित अंकन हैं, तो *बाणियाँ* इन संतों के प्रवचनों के मौखिक पाठ हैं। शुरुआती संतों की *बाणियाँ*, या कई मामलों में बाद के संतों की भी, लंबे समय तक मौखिक रूप से ही प्रसारित होती रही। पांडुलिपि रूप में लिखे जाने से पूर्व यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक इसी प्रकार हस्तांतरित होती रहीं। यह संभव है कि यह मौखिक बाणियाँ अपने हस्तांतरण के दौरान कुछ परिवर्तनों से गुज़री हों और इनमें कुछ क्षेपक जोड़े गए हों। आधुनिक विद्वानों ने पाठात्मक आलोचना (textual criticism) की पद्धति का उपयोग करते हुए इन *बाणियों* के विश्वसनीय संस्करण तैयार किए हैं। इसके अतिरिक्त *बाणियों* की सर्वाधिक प्रारंभिक पांडुलिपियों के संग्रह बाद के संकलनों के मुकाबले सामान्यतः संतों के प्रवचनों के अधिक विश्वसनीय पाठ के रूप में स्वीकारे जाते हैं। इस प्रकार कबीर के मामले में, उनकी *बाणियों* का वह संकलन जो *गुरु ग्रंथ साहिब* या *आदि ग्रंथ* में किया गया है, 1604 में पाँचवें गुरु, गुरु अर्जन, द्वारा उसे सर्वाधिक विश्वसनीय माना जाता है, क्योंकि यह सर्वाधिक प्राचीन है। कबीर की *बाणियों* के दो अन्य संकलन दादू पंथ के *पंचवाणी* और *सर्वांगी* पांडुलिपि-संग्रह (कबीर *बाणियों* की राजस्थानी या पश्चिमी परम्परा) और पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार के *बीजक* संग्रह (कबीर के प्रवचनों की पूर्वी परम्परा) हैं। *पंचवाणी* और *सर्वांगी* संग्रहों को दादू के अनुयायियों द्वारा 17वीं शताब्दी में संकलित किया गया था। *बीजक*, जो कबीरपंथियों का पवित्र धार्मिक ग्रंथ है, उसे 17वीं शताब्दी के आख़िर में संकलित किए जाने की अधिकतम संभावना है, यद्यपि इस कृति की 18वीं शताब्दी से पूर्व की कोई भी पांडुलिपि उपलब्ध नहीं है। *पंचवाणी* की पांडुलिपि में पाँच प्रमुख संतों के उपदेशों को दर्ज किया गया है – दादू, कबीर, नामदेव, रैदास और हरिदास। *सर्वांगी* संकलन में बहुत से संतों के प्रवचनों को शामिल किया गया है। *आदि ग्रंथ* और दादूपंथ के संकलनों में केवल *निर्गुण* संतों और उपदेशकों की *बाणियों* को शामिल किया गया है, किंतु 17वीं और 18वीं शताब्दियों के कुछ अन्य संग्रहों में *निर्गुण* और *सगुण* के बीच विभेद नहीं देखने को मिलता है और *सगुण* तथा *निर्गुण* संतों की कविताओं को इन संकलनों में शामिल किया गया है।

9.5.2 वैष्णव भक्ति काव्य

विभिन्न शैलियों और स्थानीय/क्षेत्रीय भाषाओं में वैष्णव भक्ति काव्य का विस्तारित होना मुग़ल काल के धार्मिक और साहित्य के इतिहास का महत्वपूर्ण विकासक्रम रहा है। 16वीं और 17वीं शताब्दियों के दौरान जब मुग़ल साम्राज्य के केंद्र में वैष्णव भक्ति पुष्पित-पल्लवित हो रही थी, कई भक्तों ने विभिन्न विषयों (कृष्ण भक्ति और राम भक्ति से संबंधित) पर कविताओं (*पदों*) और लंबे आख्यानों की रचना की। उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति काव्य के लिए ब्रज और अवधी की बोलियाँ प्राथमिक माध्यम के रूप में उभरीं, क्योंकि जिन क्षेत्रों में इन भाषाओं को बोला जाता था, उन क्षेत्रों में राम और कृष्ण भक्ति का असाधारण प्रसार हो रहा था। वैष्णव धर्म संस्थानों, शासकों और स्वायत्त सरदारों, तीर्थ-केंद्रों, मंदिर-नगरों और मठों ने इन भक्ति रचनाओं और इनकी संगीतमय प्रस्तुति के सृजन और प्रसार को बढ़ावा दिया और संरक्षण प्रदान किया। अधिकांश वैष्णव भक्ति-कवि विभिन्न वैष्णव समुदायों से संबंधित थे। कुछ स्वतंत्र वैष्णव भक्त भी थे, जैसे मीराबाई और तुलसीदास, जो किसी संस्थानीकृत वैष्णव संप्रदाय से संबंध नहीं रखते थे।

स्थानीय/क्षेत्रीय भाषाओं में लिखा गया यह वैष्णव भक्ति काव्य अपनी विषय वस्तुओं में काफ़ी भिन्नता रखता था, अपने आराध्य के प्रति भक्ति के गहन बोध – चाहे वह राम हो या कृष्ण – से लेकर *भागवत् पुराण*, जो वैष्णव भक्ति का सर्वोच्च ग्रंथ था, और *रामायण* से उठाए गए विषयों तक। वैष्णव भक्ति

कविता अपनी गीतात्मकता और संगीत-बोध के लिए जानी जाती है। समय के साथ-साथ ये भक्ति गीत और वैष्णव भक्ति कवियों के जीवन की स्मृति उत्तर भारतीय समाज के बड़े हिस्से के मस्तिष्क में गहरे रूप से घर कर गई थी। ब्रजभाषा की सभी रचनाएँ *पद-छंद* में लिखी गई हैं। चूँकि स्थानीय/क्षेत्रीय भाषाओं में, विशेष रूप से ब्रज भाषा में, सृजित भक्ति काव्य की संख्या काफ़ी विशाल है, यहाँ केवल कुछ प्रतिनिध्यात्मक वैष्णव कृतियों का ही उल्लेख किया जा रहा है।

मीराबाई के भक्तिमय *पद*ः मीराबाई (*c.* 1498-1547) भारत की सुविख्यात महिला भक्तों में से एक हैं। वह कृष्ण की भक्त थीं और राजस्थानी मिश्रित ब्रज भाषा में रचित भजनों की विशाल संख्या का श्रेय उन्हें दिया जाता रहा है। मीराबाई के प्रामाणिक *पदों* को उनमें बाद में जोड़े गए क्षेपकों से अलग करना मुश्किल है, उनके यह गीत गहनता से भक्तिमय हैं और कृष्ण के साथ गहरे आध्यात्मिक संबंध को प्रकट करते हैं।

सूरदास और *अष्टछाप*ः ब्रज और अवधी में वैष्णव भक्ति काव्य का विकास अकबर (r. 1556-1605) के शासनकाल के समकालीन है। इस प्रकार यह आश्चर्य की बात नहीं है कि सूरदास और तुलसीदास जैसे वैष्णव भक्त कवियों के साथ अकबर की भेंट संबंधी बहुत सी कथाएँ हैं। ब्रजभाषा के आठ कवि, जिन्हें सामूहिक रूप से *अष्टछाप* कहा जाता है, उन्हें परंपरागत रूप से *पुष्टिमार्ग* (वल्लभाचार्य [1479-1531]) द्वारा स्थापित एक वैष्णव संप्रदाय) से संबंधित माना जाता है। ये आठ हैंः कुंभनदास, सूरदास, परमानंद दास, कृष्णदास, गोविंद स्वामी, छींटस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास। इन सभी ने कृष्ण की प्रशंसा में गीतों की रचना की थी। इन कवियों में सबसे विख्यात सूरदास हैं और *सूरसागर*, जो भक्ति काव्य का एक विस्तृत संग्रह है, इसकी रचना का श्रेय उन्हें दिया जाता है। *पुष्टिमार्गीय* मानते हैं कि वल्लभाचार्य ने स्वयं सूरदास को इस संप्रदाय में दीक्षित किया था। किंतु जॉन स्ट्रैटन हॉली, ब्रज आधारित वैष्णव भक्ति के एक प्रख्यात विद्वान, यह तर्क देते हैं कि सूरदास वल्लभाचार्य के अनुयायी नहीं थे। हॉली के अनुसार *अष्टछाप* का यह विचार हरिराय द्वारा गढ़ा गया था, जो एक *पुष्टिमार्गीय* संतचरित लेखक थे। 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उन्होंने प्रख्यात *पुष्टिमार्गीय* संतचरित साहित्य *चौरासी वैष्णवन की वार्ता* और *दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता* को अंतिम रूप प्रदान किया था। जैसे-जैसे सूरदास की लोकप्रियता बढ़ी और कई अन्य कवियों द्वारा उनके नाम पर अधिक से अधिक कविताओं की रचना की जाने लगी, कई वैष्णव परंपराओं ने उनको अपने में समाहित करने का प्रयास किया। हरिराय ने *अष्टछाप* की इस कल्पना को गढ़ा और *चौरासी वैष्णवन की वार्ता* में सूरदास को वल्लभाचार्य के शिष्य के रूप में निरूपित किया। सूरदास की कविता कृष्ण द्वारा गोकुल के स्थानीय मुखिया-सरदार नंद द्वारा शासित पशुपालकों के बीच बिताए गए जीवन का चित्रण करती है। उन्होंने ग्वालों और ग्वालिनों के बीच कृष्ण के बचपन का अपनी कविताओं में बखान किया है।

तुलसीदास का *रामचरितमानस*ः अवधी में लिखी गई तुलसीदास की *रामचरितमानस* ('राम की लीला का पवित्र सरोवर') सबसे महत्वपूर्ण है। तुलसीदास राम के अनन्य भक्त थे और उन्होंने एक दर्जन कृतियों की रचना की, जिनमें से अधिकांश राम की भक्ति का प्रतिपादन करती हैं। *रामचरितमानस* क्षेत्रीय भाषा में *रामायण* की कथा का संभवतः सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रभावी पुनर्बखान है। यह एक महाकाव्यात्मक कविता है, जिसे अकबर के शासनकाल के दौरान सोलहवीं शताब्दी के आख़िर में लिखा गया था। *रामचरितमानस* उत्तर भारत के हिंदी भाषी क्षेत्रों में राम के भक्तों के बीच वैसा ही सम्मान रखती है, जैसा कृष्ण के भक्तों के बीच *भागवत् पुराण*। तुलसीदास के लिए राम एक निजी आराध्य के साथ-साथ एक सर्वश्रेष्ठ और सार्वकालिक ईश्वर भी हैं।

कई वैष्णव कवियों ने आख्यानात्मक कविताएँ, जिन्हें *चरित* कहा जाता है, ब्रज भाषा में लिखीं, जो प्रह्लाद और सुदामा जैसे पौराणिक भक्तों पर आधारित थीं। इन चरित काव्यों की विषय-वस्तुएँ *भागवत् पुराण* से ग्रहण की गई थी लेकिन इन्हें 16वीं तथा 17वीं शताब्दियों के सामाजिक-धार्मिक परिवेश के अनुरूप पुनर्व्याख्यायित किया गया था। इनमें से प्रह्लाद, संतों और वैष्णव भक्तों, दोनों के बीच सर्वाधिक लोकप्रिय थे। उसकी महानता और कष्टों का उल्लेख कबीर से लेकर हाथरस के तुलसी साहिब तक के काव्य में पाया जा सकता है। कई *प्रह्लाद चरित* और *सुदामा चरित*, वैष्णव भक्त कवियों द्वारा रचे गए। ऐसा ही एक *प्रह्लाद चरित्* रचने का श्रेय रैदास को दिया जाता है, जो आरंभिक चरण के एक प्रमुख संत थे।

9.5.3 भक्ति काव्य का ऐतिहासिक महत्व

काव्यात्मक आख्यानों को ऐतिहासिक स्रोतों के रूप में प्रयोग करने की पद्धति-संबंधी समस्याओं की चर्चा ऊपर 'भक्ति संतचरित लेखन के ऐतिहासिक महत्व' वाले भाग में की जा चुकी है। संतों की *बाणियों* का ऐतिहासिक स्रोत के रूप में महत्व का मूल्यांकन करते समय इस ओर संकेत किया जा सकता है कि संतों ने, चाहे वह प्रारंभिक काल के हों या बाद के काल के, साहित्यिक शैलियों और विधाओं को इस तरह प्रयुक्त किया कि उन्होंने भाषा के पारंपरिक प्रयोगों को पलट कर रख दिया। संतों की *बाणियाँ* एक प्रतिरोध की भाषा का निर्माण करती हैं, एक ऐसी भाषा जो साधारण लोगों की सामाजिक शब्दावली का हिस्सा रही थी। *सबद*, *साखी* और लोकगीतों के विभिन्न रूप जैसे *कहरा, बेली, बिराहुलि, चाँचरी, थिनती, हिंडोला, चौंतीसी, उलटबाँसी* और *विप्रमतिसी* संतों की भाषा का अविभाज्य हिस्सा थे। *उलटबाँसी* की शैली को इस्तेमाल करने का लाभ केवल यही नहीं था कि इसमें कम शब्दों में अधिक कह जाने का गुण था बल्कि महत्वपूर्ण रूप से इनके द्वारा पहेलियों के माध्यम से प्रभावशाली समूहों और धार्मिक सत्ता के मूल्यों का उपहास उड़ाने में था। मध्यकालीन संतों के बीच मात्रात्मक छंद के रूप में 'दोहे' की लोकप्रियता को अपने श्रोताओं पर गहरा प्रभाव डालने की मजबूत इच्छा का संकेत माना जा सकता है, एक ऐसे परिवेश में जिसमें संचार के मौखिक स्वरूप अधिक प्रभावी थे।

भक्ति संतचरित साहित्य की तरह ही, विभिन्न संतों की *बाणियों* के संकलन इनके संकलनकर्ताओं के विचारधारात्मक अभिमूल्य को सामने लाते हैं। इस प्रकार, *आदि ग्रंथ* और दादूपंथी संकलनों में केवल *निर्गुण* संतों की *बाणियाँ* समाहित की गई हैं और *सगुण* वैष्णव कवियों की रचनाओं को इससे बाहर रखा गया है। दूसरी ओर 17वीं और 18वीं शताब्दियों के कुछ भक्ति काव्य संकलनों में *निर्गुण-सगुण* का यह भेद देखने को नहीं मिलता है। उनमें भक्ति परम्परा के दोनों प्रकार के कवियों की रचनाएँ समाहित की गई हैं। इस प्रकार के रचना-संकलन इन उपदेशकों के अनुयायियों के बीच धार्मिक अंतर-संवाद का संकेत भी करते हैं। इस प्रकार, शेख़ फ़रीद को जिन रचनाओं का श्रेय दिया जाता है उनके सिख ग्रंथ, *आदि ग्रंथ*, में समावेश से पंजाब में सूफ़ियों और आरंभिक सिख गुरुओं के बीच अंतर-संवाद के अस्तित्व का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। *पंचवाणी* और *सर्वांगी* संकलन स्पष्ट रूप से कबीर जैसे शुरुआती संत के दादू और उनके अनुयायियों पर प्रभाव को प्रदर्शित करते हैं।

संतों की *बाणियों* में कवियों की हस्ताक्षरित पंक्तियाँ, संक्षिप्त स्व-उल्लेख, और अन्य संतों के श्रद्धापूरित जीवनीपरक उल्लेख इन कविताओं के रचनाकारों के जीवन और अन्य भक्तों तथा संतों के प्रति उनकी मनोवृति को उजागर करने के लिए अत्यंत महत्व के हैं। 'निम्न' जातियों से संबंध रखने वाले संत अपने नाम और जातियों का बिना किसी हिचक के उल्लेख करते हैं और अपने कार्य-व्यवसाय के प्रति गहरा गर्व महसूस करते हैं। इस तरह, उदाहरण के लिए, कबीर की रचनाओं में यत्र-तत्र बिखरा हुआ आत्म-परिचय का उल्लेख उनके जीवन के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी देता है और पवित्र-अपवित्र स्थानों के विश्वास का उनके द्वारा बहिष्कार को सामने लाता है। इस प्रकार की पंक्तियों में हम यह जान पाते हैं कि गोरखपुर के निकट स्थित मगहर को एक घृणित स्थान के रूप में देखा जाता था, जहाँ मृत्यु होने पर माना जाता था कि अगला जन्म गधे के रूप में होगा। कबीर अपने संपूर्ण जीवन में काशी में रहे और इस प्रकार मरने के लिए उनके द्वारा मगहर जाने का निर्णय इस दीर्घकाल से चले आ रहे विश्वास की जड़ पर प्रहार करना था। कबीरदास, रैदास और मीराबाई के काव्य में बिखरे हुए आत्मकथात्मक संकेतों ने संभवतः उनके संबंध में संतचरितात्मक लेखनों की वृद्धि को भी प्रेरित किया होगा। दूसरी ओर, यह भी संभव है कि भक्ति कवियों के संबंध में बाद की शताब्दियों में दंतकथाओं के विकास का परिणाम इन बहुत सी आत्मकथात्मक पंक्तियों के सृजन में निकला होगा, जिनकी रचना का श्रेय इन संतों और वैष्णव भक्तों को दे दिया गया होगा। इस प्रकार की साहित्यिक प्रक्रियाएँ भक्ति काव्य और भक्ति संतचरित लेखन के बीच एक दोहरे संबंध का प्रदर्शन करती हैं।

इसी प्रकार, हम विशिष्ट संतों की *बाणियों* में अन्य संतों के संक्षिप्त जीवनीपरक उल्लेख देखते हैं। अतः कबीर और रैदास, जो एक दूसरे के समकालीन थे, सम्मानपूर्वक एक दूसरे का उल्लेख करते हैं और एक दूसरे की आध्यात्मिक उपलब्धियों का यशोगान करते हैं, जो उनके बीच विचारधारात्मक निकटता का संकेत करता है। अपनी *बाणियों* में बाद के संतों ने पहले के काल के महान् संतों के

कृत्यों और आध्यात्मिक उपलब्धियों का बारंबार उल्लेख किया है। संतों की बाद की पीढ़ियों ने निरंतर *बाणियों* के माध्यम से पुरानी पीढ़ियों के साथ पहले से स्थापित संपर्क को नवीन रूप दिया और इसे अधिक विस्तार दिया। संत *बाणियों* का 16वीं, 17वीं और 18वीं शताब्दियों में निरंतर प्रवाहमान रहने की इस प्रक्रिया का अन्वेषण यह संकेत करता है कि किस प्रकार संतों की उत्तरोत्तर पीढ़ियों ने इन 300 सालों में संतों के आंदोलन को आकार प्रदान किया।

इस काल का यह उपदेशात्मक भक्ति काव्य बारंबार पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों को उद्धृत करते हुए अतीत का आह्वान करते हुए दिखाई देता है। ये संतचरितात्मक संदर्भ संक्षिप्त हैं, किंतु भक्ति संतचरित ग्रंथों की तरह, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, यह अतीत के संबंध में संतों और वैष्णवों के दो भिन्न दृष्टिकोणें को सामने लाते हैं, जिनमें इन दो भिन्न भक्त समूहों ने अपने धर्म-ज्ञान संबंधी और सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों को उचित ठहराने के लिए अतीत का उपयोग किया। 16वीं और 17वीं शताब्दियों का वैष्णव भक्ति काव्य गहन रूप से पौराणिक धर्म और मिथकों से प्रभावित था। वैष्णव भक्त कवि राम और कृष्ण को ईश्वर के अवतार के रूप में देखते थे और *भागवत् पुराण* और *रामायण* से उन्होंने विषयों और कथाओं का चुनाव कर अपने धार्मिक दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया। सभी पौराणिक भक्त इन कवियों के आदर्श पुरुष थे। सूरदास, मीराबाई और तुलसीदास और अन्य वैष्णव कवियों की रचनाएँ हमें यह स्पष्ट संकेत देती हैं कि किस प्रकार इन्होंने स्वयं को पौराणिक अतीत से जोड़ा और अपने काल में वैष्णव भक्ति के प्रतिपादन और प्रचार के लिए इसकी पुनर्व्याख्या की। वहीं दूसरी ओर, संतों ने पौराणिक अवतारवाद और मूर्ति पूजा की व्यवस्था को नकार दिया था, किंतु संत *बाणियों* का सतर्क परीक्षण यह संकेत करता है कि प्रह्लाद और ध्रुव जैसे पौराणिक नायकों की प्रशंसा करने की प्रवृत्ति कबीर और रविदास जैसे प्रारंभिक संतों की *बाणियों* में देखी जा सकती है। यह प्रवृत्ति बाद के संतों की *बाणियों* में और भी उजागर हो जाती है। बाद के संतों ने स्वयं को प्रारंभिक संतों तक पीछे जाने वाली दीर्घ धार्मिक परम्परा और उनके माध्यम से और भी पुरातन समय के ऐतिहासिक और मिथकीय दमित और उत्पीड़ित भक्तों के उत्तराधिकारियों के रूप में देखा। रजब, दरिया साहिब (बिहार के) और गरीबदास ने ध्रुव, प्रह्लाद, राबिया, मंसूर और अन्य कई उत्पीड़ित भक्तों को अपने नायकों के रूप में देखा। स्वयं को इन पौराणिक और ऐतिहासिक भक्तों के साथ जोड़ते हुए, जिन्होंने भक्ति के महान् कृत्य किए थे, शासकों और धार्मिक संस्थाओं के उग्र प्रतिरोध का सामना करते हुए, संत कवियों ने संतों के इस आंदोलन के इतिहास को सुदूर अतीत में स्थापित किया।

संतों और वैष्णव भक्तों का भक्ति काव्य उत्तर सल्तनत और मुगल काल के धार्मिक-सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास के लिए अति आवश्यक स्रोत है। भक्ति काव्य, संतों और वैष्णव भक्तों की भक्ति और धार्मिक विचारों पर जानकारियों हेतु प्राथमिक स्रोत है। संतों और वैष्णव भक्तों के बीच प्रचलित ईश्वर की विभिन्न परिकल्पनाएँ भक्ति काव्य के माध्यम से तीक्ष्ण रूप से सामने आती हैं। उनकी रचनाएँ यह प्रदर्शित करती हैं कि किस प्रकार संतों और वैष्णव भक्तों ने 'संत' और 'भक्त' शब्दों को भिन्न तरीके से परिभाषित किया। संतों की *बाणियाँ* और वैष्णव भक्ति काव्य का तुलनात्मक अध्ययन ब्राह्मणीय सामाजिक व्यवस्था और जाति पदानुक्रम, *वेदों* और *पुराणों,* मूर्ति पूजा और अवतार, तीर्थ यात्रा और संन्यास, समकालीन शासकों और कुलीन व धार्मिक संस्थाओं, व्यवसाय और श्रम की प्रतिष्ठा और, अंततः एक आदर्श सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की आकांक्षाओं पर विपरीत विचारों/दृष्टिकोणों को सामने लाता है।

रामचरितमानस और तुलसीदास की अन्य रचनाएँ उनके मानसिक संसार, धार्मिक और सामाजिक सरोकारों और चिंताओं, उनके विभिन्न धार्मिक तथा धर्मशास्त्रीय प्रवृत्तियों के बीच संगम कराने की प्रवृत्ति और कलयुग के उनके चित्र और उनके द्वारा प्रस्तुत एक आदर्श सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की छवियों के संबंध में समृद्ध अंतर्दृष्टि प्रस्तुत करती हैं। यह जानना भी अत्यंत आवश्यक है कि *रामचरितमानस* न केवल इतिहास का एक स्रोत है बल्कि एक लोकप्रिय भक्ति ग्रंथ के रूप में इसका स्वयं का एक इतिहास है, इसके सृजन में परिणत होने वाले बौद्धिक, धार्मिक और साहित्यिक अभिप्रेरणाएँ, इसकी कथा का निरंतर होने वाला प्रसार और इन पिछली तीन शताब्दियों में जनसंख्या के एक बड़े भाग की धार्मिक और कभी-कभी राजनीतिक चेतना को आकार देने में सक्रिय शक्ति के रूप में इसकी भूमिका महत्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रक्रियाएँ हैं।

अधिक महत्वपूर्ण ढंग से, गुरु नानक और कबीर की *बाणियाँ* तथा सूरदास और तुलसीदास जैसे वैष्णव भक्तों के भक्ति ग्रंथों का इन भक्ति गुरुओं की पितृसत्ता के प्रति मनोवृत्तियों के बीच तुलना करने हेतु विद्वानों द्वारा गहन अध्ययन किया गया है। भक्ति काव्य, विभिन्न भक्ति परंपराओं में महिलाओं के निरूपण में भिन्नता के अन्वेषण का आधार भी प्रस्तुत करता है।

बोध प्रश्न-4

1) संतों और वैष्णव भक्ति कवियों की रचनाओं के बीच अंतर बताइए।

.....

.....

.....

2) सामाजिक इतिहास लेखन हेतु भक्ति काव्य के महत्व की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

9.6 इतिहास के स्रोत के रूप में सूफ़ी लोक साहित्य

स्थानीय सूफ़ी संतों से संबंधित स्थानीय/क्षेत्रीय भाषाओं में लिखे गए लोक साहित्य ने इस्लामी दया भाव और संस्कृति को भारत के कुछ क्षेत्रों में ग्रामीण जनों के बीच प्रसारित किया। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, दक्खन के सूफ़ी *ख़ानकाहों* में 17वीं और प्रारंभिक 18वीं शताब्दियों में रची गई कुछ लघु कविताओं को ग्रामीण महिलाओं द्वारा घर के विभिन्न कार्य करते हुए गाया जाता था। यह लोक साहित्य लिखित और मौखिक, दोनों, रूपों में पाया जाता है। दक्खन में *दरगाह*-आधारित समुदायों की बढ़ती लोकप्रियता ने बड़ी संख्या में भक्तों, विशेष रूप से महिलाओं को, जो 'निम्न' जाति के सामाजिक समूह से संबंध रखती थीं और ब्राह्मणीय सामाजिक व्यवस्था की परिधि में स्थित थीं, को आकर्षित किया। इस *दरगाह* साहित्य के सूफ़ी लेखक सूफ़ी और इस्लामी शिक्षाओं के प्रचार के माध्यम के रूप में लोक काव्य के मौजूदा रूपों को ग्रहण कर रहे थे और दक्खन में सूफ़ी लोक काव्य के दो प्रमुख रूपों में चक्की-नामा और *चरखा-नामा* शामिल हैं। *चक्की-नामा* काव्य चक्की पर खाद्यान्नों को पीसते हुए ग्रामीण महिलाओं द्वारा गाए जाते थे और *चरखा-नामा* की कविताएँ चरखे पर सूत को कातते हुए गायी जाती थीं। अन्य प्रकार के सूफ़ी काव्य में *लूरी-नामा* (लोरी गीत), *शादी-नामा, सुहागन-नामा* (सुहागनों के गीत) और *सुहैला* (प्रशंसात्मक गीत) शामिल हैं। यह लोक साहित्य यह समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण स्रोत है कि किस प्रकार दक्खन के महान् चिश्ती संतों के अनुयायियों ने इस्लाम की शिक्षाओं और धारणाओं को साधारण घरेलू कामकाज से जोड़ा, विशेष रूप से ग्रामीण महिलाओं के दैनिक जीवन के कामकाज से। इस प्रकार के साहित्य की रचना में इन सूफ़ी कवियों का प्राथमिक उद्देश्य ईश्वर के प्रति भक्ति और पीर के प्रति श्रद्धा को अभिव्यक्त करना था। यह कहना सही नहीं होगा कि वे ग़ैर-मुस्लिमों को इस्लाम में धर्मांतरित करने के लिए किसी सचेत प्रयास में लगे हुए थे। दीर्घकाल में, यद्यपि इन कविताओं ने इस्लामी पर-संस्कृतिकरण में योगदान दिया और दक्खन के 'लोक इस्लाम' का अखंड हिस्सा बन गए। इस प्रकार सूफ़ी लोक साहित्य यह अध्ययन करने हेतु साक्ष्य उपलब्ध कराता है कि किस प्रकार उत्तर मध्यकालीन दक्खन में सूफ़ी संतों के पंथों ने गैर-कुलीन महिला अनुयायियों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से ग्रामीण समाज के बीच इस्लामी शिक्षाओं का प्रचार और हस्तांतरण किया।

9.7 सूफ़ी *प्रेमाख्यानों* का ऐतिहासिक महत्व

हिंदवी सूफ़ी रूमानी आख्यानों (*प्रेमाख्यान* साहित्य) की रचना 14वीं शताब्दी के आखिरी दौर से लेकर मध्य 16वीं शताब्दी के बीच गंगा-जमुना *दोआब* के पूर्वी भाग में हुई। सूफ़ी कवि जिन्होंने यह *प्रेमाख्यान* लिखे, उन्होंने राजकुमार रूपी नायकों के रूमानी प्रेम की खोज का उपयोग ईश्वर के साथ स्वयं को एकाकार कर देने की आध्यात्मिक खोज को अभिव्यक्त करने के लिए किया।

यह *प्रेमाख्यान* साहित्य फ़ारसी रूमानी काव्य (*मसनवी*) के आदर्श पर रचा गया था, किंतु गहन रूप से स्थानीय हिंदवी संस्कृति और कथावाचन की परंपराओं में रचा हुआ था। विजय के महाकाव्यों के विपरीत, जिन्हें आरंभिक दिल्ली सल्तनत के दरबार में फ़ारसी भाषा में रचा गया था और जो तुर्क सुल्तानों तथा उनकी सेनाओं की सैन्य विजयों का यशोगान करते थे, सूफ़ी कवियों ने अवधी में *प्रेमाख्यानों* की रचना की और स्वयं को स्थानीय और क्षेत्रीय नायकों के साथ खड़ा पाया, जिन्होंने तुर्क हमलावरों का प्रतिरोध किया था। इस शैली के सूफ़ी आख्यान उत्तर भारत में सूफ़ी *सिलसिलों* के क्रमिक स्थानीयकरण और क्षेत्रीयकरण की प्रक्रिया का संकेत करते हैं। चूँकि इस *प्रेमाख्यान* साहित्य की रचना को तुर्क या अफ़ग़ान मूल के स्थानीय शासकों और स्थानीय सरदारों द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया था, ये यह भी दर्शाते हैं कि किस प्रकार ये शासक और स्वायत्त सरदार भारतीय संस्कृति और परम्परा के प्रभाव में आ चुके थे। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, मलिक मुहम्मद जायसी, जिन्होंने शेरशाह के दरबार में 1542 के आसपास *पद्मावत* की रचना की थी, ने सुल्तान अलाउद्दीन ख़लजी को एक प्रति-नायक और रतन सेन, चित्तौड़ के स्थानीय राजपूत राजा को, जिसने सुल्तान के आक्रमण का प्रतिरोध किया, एक नायक के रूप में दिखाया है। यह *प्रेमाख्यान* साहित्य दर्शाता है कि किस प्रकार स्थानीय सूफ़ियों ने सूफ़ी विचारों को प्रसारित करने के लिए वैष्णव और नाथपंथी प्रतीकों को ग्रहण किया। मध्य काल के सूफ़ी *प्रेमाख्यान*, जैसे मलिक मुहम्मद जायसी का *पद्मावत*, कुतुबन का *मृगावती* और मंझन की *मधुमालती*, नाथपंथी संप्रदाय के संस्थापक गोरखनाथ के प्रति सम्मान प्रकट करते हैं।

बोध प्रश्न-5

1) सूफ़ी लोक साहित्य के ऐतिहासिक महत्व की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

2) सूफ़ी *प्रेमाख्यान* साहित्य का क्या ऐतिहासिक महत्व है?

.....

.....

.....

9.8 सारांश

उत्तर भारत में चौदहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के बीच का काल सूफियों, संतों और वैष्णव भक्तों के काव्यात्मक और संतचरित साहित्य में अपार वृद्धि का साक्षी रहा है। धार्मिक काव्य तथा संतचरित लेखन, साहित्य सृजन के ये दोनों ही स्वरूप, धर्मात्माओं तथा संतचरित लेखकों की सामाजिक-धार्मिक विश्वदृष्टि के संबंध में महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं। इस काल के सामाजिक, धार्मिक तथा बौद्धिक इतिहास के अन्वेषण हेतु ऐतिहासिक स्रोतों के रूप में विभिन्न शैलियों में लिखे गए काव्यात्मक तथा संतचरित साहित्य के महत्व को भी इतिहासकारों तथा विद्वानों द्वारा रेखांकित किया गया है। किन्तु ऐसा करते हुए, इतिहासकारों की विशेष चिंता इन साहित्यिक सामग्रियों में तथ्य और कल्पना के बीच एक स्पष्ट अंतर करने की रही है। जिसे कथात्मक और लेखक की रचनात्मक कल्पना की सृष्टि समझा गया, उसे नकार दिया गया तथा इतिहास लेखन के उद्देश्य से मात्र तथ्यात्मक सूचना को ही ग्रहण किया गया। इस तरह के दस्तावेज़-केंद्रित और प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण की अपनी सीमाएँ हैं, ये धार्मिक काव्य तथा संतचरित लेखन को सांस्कृतिक तत्वों के रूप में ग्रहण करने और व्यापक ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को आकार देने में उनकी भूमिका का अन्वेषण करने में असफल रहती हैं। जैसा कि इस इकाई में दर्शाया गया है, यह परीक्षण करना अधिक महत्वपूर्ण है कि इन कवियों और संतचरित लेखकों ने किस प्रकार अपने कार्य को देखा और किस प्रकार उनकी रचनाओं और उन्होंने इतिहास को आकार दिया, विशेष रूप से अपने काल के धार्मिक इतिहास को।

9.9 शब्दावली

चरित	जीवनीपरक आख्यान
मलफ़ूज़ात	*मलफ़ूज़* का बहुवचन; *मलफ़ूज़ात* सूफ़ी संतों के मौखिक संवाद हैं
मक़तूबात	सूफ़ियों द्वारा लिखे गए पत्र
परचई/परचै	संत की जीवनी
तज़किरा	बहुवचन ***तज़किरात;*** *तज़किरात* सूफ़ी संतों के जीवन वृत्तांत या चित्रण हैं, जिन्हें लिखित तथा मौखिक परम्पराओं से संकलित किया गया है
वार्ता	कथा या वृत्तांत

9.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें उप-भाग 9.2.1
2) देखें उप-भाग 9.2.2

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 9.3
2) देखें उप-भाग 9.3.2
3) देखें उप-भाग 9.3.3
4) देखें उप-भाग 9.3.4

बोध प्रश्न-3

1) देखें उप-भाग 9.4.1
2) देखें उप-भाग 9.4.2
3) देखें उप-भाग 9.4.3

बोध प्रश्न-4

1) देखें उप-भाग 9.5.1 और 9.5.2
2) देखें उप-भाग 9.5.3

बोध प्रश्न-5

1) देखें भाग 9.6
2) देखें भाग 9.7

9.11 संदर्भ ग्रंथ

आलम, मुज़फ़्फ़र, (2021) *द मुगल्स एंड द सूफ़ीः 1500-1700* (रानीखेतः परमानेंट ब्लैक).

कालेवर्त, विनांद एम., (1987) 'दादु एंड द दादू-पंथः द सोर्सेज', कैरीन शॉमर और डब्ल्यू. एच. मैकलियोड, संपा., *द संत्सः स्टडीज इन ए डिवोशनल ट्रेडिशन ऑफ इंडिया* (दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास), पृ. 181-89.

कालेवर्त, विनांद एम., (सं. और अनु.) (1988). *द हिंदी बायोग्राफी ऑफ दादू दयाल* (ए क्रिटिकल एडिशन एंड इंग्लिश ट्रांसलेशन ऑफ़ *जन गोपाल'स दादू जन्म लीला,* (दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास).

कालेवर्त, विनांद एम., (2000) *द हेजियोग्राफ़र्स ऑफ़ अनंतदासः द भक्ति पोयट्स ऑफ़ नॉर्थ इंडिया* (रिचमंड, सरेः कर्ज़न प्रेस).

करी, पी. एम., (1989) *द श्राइन एंड कल्ट ऑफ मोईनुद्दीन चिश्ती ऑफ़ अजमेर* (दिल्लीः ऑक्सफोर्ड प्रेस), पृ. 234-62.

डिग्बी, सायमन, (2003) 'द सूफ़ी शेख एज़ आ सोर्स ओफ़ अथॉरिटी इन मिडीवल इंडिया', रिचर्ड एम. ईटन, संपा., *इंडिया'स इस्लामिक ट्रेडिशंस, 711-1750* (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), पृ. 234-62.

अन्र्स्ट, कार्ल डब्ल्यू. और ब्रूस बी. लॉरेंस, (2002) *सूफ़ी मार्टियर्स ऑफ़ लवः द चिश्ती ऑर्डर इन साउथ एशिया एंड बियांड* (न्यूयार्कः पालग्रेव मैकमिलन).

अन्र्स्ट, कार्ल डब्ल्यू., (2004 [1992]) *इटरनल गार्डनः मिस्टिसिज़्म, हिस्ट्री, एंड पॉलिटिक्स एट ए साउथ एशियन सूफ़ी सेंटर*, दूसरा संस्करण (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), अध्याय 4 और 5.

अन्र्स्ट, कार्ल डब्ल्यू. ,(2016) *रिफ्रैक्शन्स ऑफ़ इस्लाम इन इंडियाः सिचूएटिंग इस्लाम एंड योगा* (नई दिल्लीः सेज/योडा प्रेस).

ग्रेवाल, जे.एस., (2007) *लेक्चर्स ऑन हिस्ट्री, सोसायटी एंड कल्चर ऑफ़ पंजाब* (पटियालाः प्रकाशन ब्यूरो, पंजाब विश्वविद्यालय).

हबीब, मोहम्मद, (1974) 'चिश्ती मिस्टिक्स रिकॉर्ड्स ऑफ द सल्तनत पीरियड', के. ए. निज़ामी, संपा., *पॉलिटिक्स एंड सोसाइटी ड्यूरिंग द अर्ली मिडीवल टाइम्ज़ः कलेक्टेड वर्क्स ऑफ़ मोहम्मद हबीब*, भाग 1 (दिल्लीः पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस), पृ. 385-433.

हॉली, जॉन स्ट्रैटन और मार्क जुर्गेन्समेयर, (2004 [1988]) *सोंग्स ऑफ़ द सेंट्स ऑफ़ इंडिया* (दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

हॉली, जॉन स्ट्रैटन, (2015) *ए स्टॉर्म ऑफ़ सोंग्स, इंडिया एंड द आइडिया ऑफ़ द भक्ति मूवमेंट* (कैम्ब्रिज, मैसाचुसेट्सः हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

हेस, लिंडा, (1987). 'थ्री कबीर कलेक्शंस', कैरीन शॉमर और डब्ल्यू. एच. मैकलियोड, संपा., *द संत्स डिवोशनल ट्रेडिशन ऑफ़ इंडिया* (दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास), पृ. 111-41.

लॉरेंज़न, डेविड एन., (1991) *कबीर लीजेंड्स एंड अनंतदास'स परचई* (अल्बानीः न्यूयॉर्क यूनिवर्सिटी प्रेस).

लोरेंज़न, डेविड एन., (1996) *प्रेजेंस ऑफ़ अ फ़ॉर्मलैस गॉडः निर्गुणी टेक्स्ट्स फ्रॉम नॉर्थ इंडिया* (दिल्लीः श्री सतगुरु प्रकाशन).

मैकलियोड, डब्ल्यू. एच., (2007) *एसेज इन सिख हिस्ट्री ट्रेडिशन एंड सोसाइटी* (दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

निज़ामी, के.ए., (2002 [1961]) *रिलीजंस एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया ड्यूरिंग द थर्टींथ सेंचुरी* (दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

रिज़वी, एस. ए. ए., (1978-2002) *अ हिस्ट्री ऑफ़ सूफ़िज़्म इन इंडिया,* दो भाग (दिल्लीः मुंशीराम मनोहरलाल).

सिज्ज़ी, अमीर हसन, (1992) *फ़वायद उल-फ़ुवाद* (*मॉरल्ज़ फॉर द हार्ट*), अनु. और टिप्पणी, ब्रूस बी. लॉरेन्स (न्यूयॉर्कः पॉलिस्त प्रेस).

9.12 शैक्षणिक वीडियो

कबीरः दैन एंड नाओ

https://www.youtube.com/watch?v=UkULhmshsNg

'माई पर्सनल एंड पॉलिटिकल कबीर'

https://www.youtube.com/watch?v=bWyTFl6s62s

सूफीज़ ऑफ़ बीजापुर रीविज़िटेडः प्लेस ऑफ़ सूफीज़्म इन इंडियाज़ हिस्ट्री

https://www.youtube.com/watch?v=FbeoOoKVPsY

इकाई 10 वंशावलियाँ तथा पारिवारिक इतिहास*

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 पश्चिम भारत की वंशावली परम्पराएँः *चारण, भाट* तथा *वहीवांचा बारोत*

10.3 बंगाल के *कुलग्रंथ*

10.3.1 *कुलग्रंथः* अतीत की परिकल्पना

10.3.2 *कुलग्रंथों* में ऐतिहासिकता की समस्या

10.4 कुमाऊँ वंशावलियाँः *वंशावली/पुस्तनामा*

10.4.1 शासक परिवार की वंशावलियाँ

10.4.2 विशिष्ट ब्राह्मण वंशों की वंशावलियाँ

10.5 *तीर्थ* वंशावलियाँ

10.6 पारिवारिक दस्तावेज़

10.7 सारांश

10.8 शब्दावली

10.9 बोध प्रश्नों का उत्तर

10.10 संदर्भ ग्रंथ

10.11 शैक्षणिक वीडियो

10.0 उद्देश्य

यह इकाई भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में प्रचलन में रही वंशावलियों के अंकन तथा पारिवारिक इतिहासों की परम्परा, और किस प्रकार ये परम्पराएँ पूर्व-आधुनिक भारत में अतीत-संबंधी दृष्टिकोण से जुड़ी हुई थीं, और साथ ही इतिहास के निर्माण में इनके महत्व पर केंद्रित है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप सक्षम होंगेः

- वंशावलियों के अंकन की विभिन्न प्रकार की परम्पराओं का परिचय पाने में,
- इतिहास के निर्माण में इनके महत्व को समझने में,
- इन वंशावलियों को रचने, संग्रहित तथा संकलित करने की रीतियों का विश्लेषण करने में,
- इस प्रकार के अंकनों के उद्देश्य का मूल्यांकन करने में, और
- इनमें अंतर्बद्ध ऐतिहासिक चेतना का मूल्यांकन करने में।

10.1 प्रस्तावना

प्रत्येक समाज के अतीत को याद रखने के अपने तरीके होते हैं। पिछली इकाइयों में प्रारंभिक ऐतिहासिक भारत में प्रचलित तथा पायी जाने वाली, अतीत को स्मरण करने और दर्ज करने की, इनमें से कुछ रीतियों के विषय में आप पढ़ चुके हैं। विभिन्न कालों तथा विभिन्न संस्कृतियों में लोग परिवर्तन तथा निरंतरता के अपने अनुभव से अर्थ ग्रहण करते हैं। कुछ मानवविज्ञानी अध्ययनों ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि ऐतिहासिक चेतना इस अर्थ में एक सामान्य या सार्वभौमिक मानव क्षमता है कि यह सभी मानव समाजों की समय से अर्थ ग्रहण करने की आधारभूत विशेषता है (नॉर्ग्रेन 2019: 780)। अतः,

* **श्री जितेश कुमार जोशी, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली**

यहाँ हम यह देखेंगे कि इस अध्याय में जिन वंशावली परम्पराओं की चर्चा की गई है, वे किस तरह ऐतिहासिक चेतना का प्रदर्शन करती हैं और उनमें अतीत को किस प्रकार देखा गया है। यहाँ हम उस प्रक्रिया पर भी नज़र डालने की कोशिश करेंगे जिसे सुमित गुहा 'वंशावली, प्रशस्तिपूर्ण संत जीवनचरित, तथा धार्मिक व धर्मनिरपेक्ष दोनों प्रकार के स्थानों पर स्मारकों की स्थापना की रीतियों के माध्यम से स्मृति का नियंत्रण तथा संरचनाबद्ध किया जाना' कहते हैं (गुहा, 2019: प्रस्तावना)। बहरहाल, यहाँ हम भारतीय उपमहाद्वीप में प्रचलित केवल कुछ वंशावली परम्पराओं की ही चर्चा करेंगे।

इस इकाई में हम विशिष्ट विस्तारित परिवारों या वंशों से संबंध रखने वाली वंशावली परम्पराओं की चर्चा करेंगे। ये परम्पराएँ अपनी प्रकृति, स्वरूप तथा उद्देश्यों के संबंध में पौराणिक वंशवालियों तथा अभिलेखों में उत्कीर्ण राज-वंशावलियों से भिन्नता रखती हैं। यहाँ हम राजस्थान तथा गुजरात में प्रचलित ***चारण*** और ***भाट*** परम्परा पर दृष्टि डालेंगे।

अन्य भाग में हम बंगाल के ***कुलग्रंथों*** की चर्चा करेंगे। वहीं एक अन्य भाग कुमाऊँ की वंशवालियों पर केंद्रित रहेगा। इस तरह की वंशवालियों को गाँव के स्तर पर संकलित तथा संग्रहित किया गया है और अधिकांशतः इनमें किसी एक परिवार या वंश-विशेष की शाखाओं तथा उप-शाखाओं का वर्णन किया गया है जो एक समान पुरुष पूर्वज से स्वयं की उत्पत्ति मानते हैं। इस तरह की वंशावलियाँ उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में पायी जाती हैं तथा इनका संबंध ब्राह्मण या कायस्थ जैसे साक्षर वर्गों/जातियों से रहा है।

अन्य भाग में हम *तीर्थ* वंशवालियों पर ध्यान देंगे। इन वंशावलियों को भारत के विभिन्न तीर्थ-केंद्रों में ब्राह्मण *पंडों* द्वारा दर्ज किया जाता है तथा सुरक्षित रखा जाता है। हरिद्वार, कुरुक्षेत्र तथा पुरी वे सबसे ख्यात क्षेत्र हैं जहाँ हम इस तरह की परम्परा को सुरक्षित पाते हैं। अंतिम भाग, संक्षेप में, ऐसे दस्तावेज़ों की चर्चा करता है जो किसी परिवार-विशेष की विरासत का हिस्सा रहे हैं, विशेष रूप से हम पश्चिमी भारत के **हरि-भक्ति दस्तावेज़ों** की निर्माण-प्रक्रिया को समझने का प्रयास करेंगे। इन परंपराओं की चर्चा तथा परीक्षण से हम इन पूर्व-आधुनिक परम्पराओं में निहित अतीत के विचार को समझ सकते हैं।

10.2 पश्चिमी भारत की वंशावली परम्पराएँ: *चारण, भाट* तथा *वहीवांचा बारोत*

राजस्थान के मध्यकाल के अध्ययन में वंशावलियाँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इस क्षेत्र में पेशेवर वंशावली तैयार करने वालों के विशेष समुदाय थे, जिन्हें *चारण/भाट* कहा जाता था। मध्य तथा उत्तर गुजरात में भाटों के समूह से वंशावली रचने वालों के एक विशेष समुदाय का उदय हुआ जिसे ***वहीवांचा बारोत*** के नाम से जाना जाता था।

वहीवांचा बारोत लिखित रूप में अपने दस्तावेज़ों को रखते थे। शाब्दिक रूप से *वहीवांचा* का तात्पर्य *बही/वही* को बांचने या पढ़ने वालों से है। शाह तथा श्रॉफ़ (1984) द्वारा देखी गई सबसे पुरानी बही 1740 सी ई से संबंध रखती है, लेकिन उन्हें ऐसी वंशावली भी प्राप्त हुई थीं जो 1234 सी ई जितनी पुरानी घटनाओं को दर्ज करती हैं। लेकिन इस दस्तावेज़ की भाषा से यह स्पष्ट है कि इसे बाद के समय में लिखा गया था। यह वंशावली काल्पनिक प्रतीत नहीं होती है क्योंकि इसकी जानकारियों की पुष्टि उस गाँव में मिले अभिलेखों से की जा सकती है। अगर यह जानकारी मानी जाए तो *वहीवांचा* के दस्तावेज़ ये भी बताते हैं कि उनके वर्तमान संरक्षकों के बीच पुश्तैनी संपत्ति किस प्रकार बँटी हुई है। कभी-कभी भूमि के क्रय-विक्रय तथा घरों के मालिकाने की जानकारी भी ये विशेषज्ञ दर्ज करते हैं। अपने संरक्षकों के परिवारों के सदस्यों के जीवन की प्रमुख घटनाओं को भी दर्ज करने के लिए इन्हें महत्वपूर्ण समझा जाता था। इस प्रकार कुछ बहियों में उन व्यक्तियों के बारे में जानकारी मिलती है, जिन्होंने 1857 के विद्रोह में भाग लिया। अन्य घटनाएँ जिन्हें दर्ज किए जाने के योग्य माना गया था, उनमें किसी पूर्वज की मृत्यु, सशस्त्र डकैतों के साथ हुई कोई झड़प, अपने गाँव या जाति को दिया गया कोई विशाल भोज, किसी पूर्वज को राजा द्वारा दिया गया सम्मान या किसी पुरखे द्वारा गृह जीवन का त्याग कर संन्यास ग्रहण करना, इत्यादि शामिल हैं। महमूद बेगड़ा के शासनकाल में इस्लाम में धर्मांतरण के संदर्भ भी इसमें मिलते हैं। यह वंशावली स्पष्ट तौर पर दर्शाती है कि कौन

पूर्वज मुस्लिम बन गया और कौन हिंदू बना रहा। *वहीवांचा* की बहियाँ इस प्रकार अपने संरक्षकों के सामाजिक संस्थानों तथा मूल्यों के विषय में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध कराती हैं।

जानकार *चारण*, राजपूत समाज के गाथा-कार और कवि थे, जिनका अपने संरक्षक राजपूत वंश से आनुवांशिक संबंध होता था। *चारण* विशेष अवसरों पर अपने संरक्षक-परिवारों द्वारा बुलाए जाने पर गीतों तथा गाथाओं का पाठ करते थे। इन आख्यानात्मक गीतों को *बात* या *वात* या *वातम* कहते थे। जहाँ अधिकतर *चारण* अपने अन्य प्राथमिक काम-काज के साथ इस गाथा-गान के कविकर्म को एक अधीनस्थ द्वितीयक कार्य के रूप में ही करते थे, वहीं कुछ अन्य थे जो पूर्णकालिक पेशेवरों ने रूप में स्वयं को गाथा और काव्य की कलाओं में पारंगत बना लेते थे। वे शक्तिशाली वंशों तथा परिवारों का संरक्षण पाने के लिए परस्पर प्रतिस्पर्धा करते थे और उनमें से कुछ ने दरबारी कवियों के पद को भी प्राप्त किया था। इस परम्परा से जुड़ा हुआ अन्य समुदाय *भाटों* का था, ये विशेषज्ञ *पीढ़ियावलियों* (पीढ़ियों की श्रृंखला) की रचना करते थे। *भाट* (संस्कृत भट्ट से) शब्द का अर्थ मूल रूप से 'प्रार्थनाओं, प्रशस्तियों और मंगलाचरण के जानकार' से होता था किंतु यह बाद में वंशावलियों के विशिष्ट ज्ञान रखने वालों का संकेत करने लगा। प्रत्येक जाति का अपना *भाट* था, जिन्हें विभिन्न नामों से जाना जाता था, जो इस पर आधारित होता था कि वे किस जाति की सेवा में लगे हुए हैं। उदाहरण के लिए, राजपूतों को सेवा देने वाले *भाटों* को *वर्वा* कहा जाता था। इन वंशावलियों को विस्तृत *बहियों* में लिखा जाता था, और ये *भाटों* की ही संपत्ति समझी जाती थीं। इन्हें निश्चित अवसरों पर बांचा जाता था, जब जन्म, मृत्यु, विवाह, इत्यादि को *बहियों* में दर्ज करना होता था।

इसी तरह की अन्य वंश-आधारित परम्परा ***वंशावलियाँ*** थीं, जिन्हें परिवारों द्वारा स्वयं के पास रखा जाता था और ये उन्हीं की संपत्ति होती थीं। परम्परागत रूप से इन्हें उन वंशावली विशेषज्ञों द्वारा व्यवस्थित किया जाता था जो घरों पर आकर इनमें नई प्रविष्टियाँ करते थे। इस तरह की सुरक्षित रह गई *वंशावलियाँ* कुछ प्रमुख परिवारों के पास ही उपलब्ध हैं, जैसे स्थानीय शासक तथा महत्वपूर्ण *ज़मींदार* परिवार। *पीढ़ियावलियों* की तुलना में *वंशावली* अधिक विस्तृत स्वरूप की हैं। अपने कथित संस्थापक या किसी विशिष्ट शाखा के निकटस्थ संस्थापक तक की पीढ़ियों के नामों को अंकित करने के साथ ही उस कुटुंब के सदस्यों के समयों में घटित प्रमुख घटनाओं का उल्लेख भी इनमें मिलता है। ये विवरण, अधिक दूर के पूर्वजों के साहसिक कार्यों की मौखिक परंपराओं को तथा भूमि अनुदानों की जानकारी के साथ उनके संक्षिप्त जीवन-चरित, और निकट अतीत के सदस्यों द्वारा स्थानीय शासक की सेवा में लड़े गए युद्ध या उसे प्रदान की गई सेवा को लिखित गद्य स्वरूप में प्रस्तुत करते हैं। *पीढ़ियावली* तथा *वंशावली* दोनों ही लिखित स्वरूप की होती हैं, उनके मौखिक प्रतिरूप, यद्यपि, अब भी राजस्थान के गांवों में राजपूत परिवारों की विभिन्न सेवादार जातियों द्वारा सुरक्षित रखे गए हैं।

वंशवाली परंपराओं का क्रमिक विकास तथा मध्यकालीन समाजों में इनकी भूमिका

बाद के काल में ये *पीढ़ियावली* या *वंशावलियाँ*, *ख्यात* और *विगत* साहित्य में शामिल कर ली गईं। राजस्थान की सबसे पुरानी उपलब्ध *ख्यात*, सत्रहवीं शताब्दी की *नैणसी री ख्यात*, सारतः *बातम* कथाओं और *वंशावलियों* का एक संग्रह है जो राजस्थान के सभी प्रमुख राजपूत राजवंशों, और इनमें कुछ कम महत्वपूर्ण वंश भी शामिल हैं, पर विचार करती हैं, जिन्हें विशेष *वंशों* या *कुलों* के आधार पर अलग-अलग खंडों में व्यवस्थित किया गया है। प्रत्येक भाग की कथाएँ तथा *वंशावलियाँ* किसी वंश की उत्पत्ति तथा इतिहास, उसके पुरुष संस्थापक पूर्वज से लेकर इन परंपराओं को 1648 से 1666 के बीच में *ख्यात* में लिखित रूप में शामिल करने तक के समय, पर विचार करती हैं। जहाँ उपर्युक्त प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री का वर्तमान में उपलब्ध सबसे आरम्भिक उदाहरण राजस्थान में 17वीं शताब्दी से संबंध रखता है, वहीं राजस्थानी विद्वानों में यह सहमति है कि 12वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 13वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही महत्वपूर्ण घटनाओं को सुरक्षित रखने की (सामान्यतः *चारण* काव्य के रूप में) और राजपरिवारों के वंशवृत्तों को *वंशावलियों* के रूप में व्यवस्थित रखने की सुविकसित क्षेत्रीय परम्परा अस्तित्व में थी। 15वीं शताब्दी के आगमन के साथ डिंगल भाषा में लिखी हुई *बातम* विविध स्वरूपों में प्रथम बार सामने आने लगीं जो अपने पूर्ववर्ती संस्कृत आदर्शों पर आधारित थीं।

प्रमुख राजस्थानी विद्वान यह तर्क देते हैं कि लिखित वंशात्मक इतिहास का विकास मुग़ल प्रभाव के कारण हुआ था लेकिन यह तर्क उस सामाजिक-राजनीतिक परिवेश को अनदेखा करता है जिसने

प्रारंभिक रूप से इस प्रकार के साहित्य को जन्म दिया था (ज़िग्लर 1976)। ज़िग्लर का तर्क है कि इस तरह के साहित्य का विकास आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार के दबावों के फलस्वरूप शुरू हुआ था। पूर्वजों की परम्परा को मुग़लों द्वारा दिए गए विशेष महत्व को देखते हुए एक सुस्थापित पूर्वज परम्परा मुग़ल दरबार में अनुग्रह तथा पद पाने हेतु एक महत्वपूर्ण तथा आवश्यक युक्ति थी। इसके साथ ही स्थानीय क्षेत्र पर नियंत्रण बनाए रखने की चिंता तथा राजस्थान के भीतर के क्षेत्रों में सत्ता की वैधता के दावे अधिक आधारभूत तत्व थे जिन्होंने इन इतिवृत्तांतों के लेखन को प्रभावित किया। इस प्रकार इन इतिवृत्तांतों ने स्थानीय स्तर पर राजपूतों के बीच प्रतिष्ठा और स्थिति के दावों का औचित्य सिद्ध करने और बाहरी सत्ता के सम्मुख साक्ष्य प्रस्तुत करने हेतु एक सामूहिक तथा संगठित परम्परा के निकाय के रूप में दोहरे उद्देश्यों की पूर्ति की। इसी प्रकार *बारोत* अपने कार्य के माध्यम से स्थानीय वंशों और कुलों को क्षेत्रीय, यदि अखिल भारतीय स्तर के मिथकों और इतिहास के साथ नहीं भी तो, संपर्क में लाए। ये वंश तथा कुल स्वयं का स्थान स्थानीय पदानुक्रम में ऊँचा उठाने को लेकर चिंतित थे और *बारोतों* की बहियों में दर्ज किए गए इतिहास और मिथकों ने उनके इस उत्थान में उन्हें सहायता पहुँचाई (शाह और श्रॉफ़ 1984)।

जैसा कि आप भारतीय ऐतिहासिक परंपराओं में गुथे हुए उपदेशात्मक दृष्टिकोण के विषय में **इकाई 2** और **इकाई 6** में पढ़ चुके हैं, इन परंपराओं से भी ऐसी ही आशा की जाती थी। ये ऐसा माध्यम थीं जिनसे युवा राजपूतों को 'अपने परिवारों, वंशों और गोत्रों के इतिहास से परिचित कराया जाता था; अपने पूर्वजों के नैतिक मूल्यों में शिक्षित किया जाता था; और भविष्य में अपनी सामाजिक भूमिकाओं के लिए प्रशिक्षित किया जाता था' (ज़िग्लर 1976)। तथ्यों और कालानुक्रम पर बल देना *चारणों* और मध्यकालीन राजस्थानी समाज में उनकी भूमिका को समझने में सहायक नहीं होगा, हमें इन परंपरागत जानकारों को एक मनीषी के रूप में, कथाओं के संरक्षक और परंपराओं के आश्रयदाता के रूप में देखना होगा, जिस सत्य का वे प्रतिनिधित्व करते हैं उसका संबंध तथ्यात्मक रूप से वस्तुनिष्ठ होने से कम ही हैं, बल्कि मनुष्य के जीवन में प्रसन्नता और संपूर्णता प्राप्त करने के माध्यम के रूप में धार्मिक मूल्यों और सामाजिक आदर्शों का प्रतिनिधित्व करने से अधिक हैं। मध्यकालीन राजस्थानी समाज में *चारण* और *भाटों* को ब्राह्मणों के ठीक नीचे और राजपूतों के ऊपर स्थान दिया गया था, इस प्रकार उन्हें नैतिक व्यवस्था और सामाजिक मूल्यों के संरक्षकों के रूप में भी देखा जाता था। उन्होंने राजपूतों की प्रतिष्ठा और ज़मीन पर अधिकारों, विजयों, अनुदान तथा विरासत की रक्षा हेतु राजपूतों के व्यापक राजनीतिक हितों की पूर्ति की और वंश के आधार पर उनकी वैधता और प्रतिष्ठा के दावों का अर्थ साबित किया।

इन परंपराओं की प्रमाणिकता का विश्लेषण करते हुए कुछ आधारभूत बातें हैं जिनका ध्यान रखना चाहिएः

1) *बातम* तथा *पीढ़ियावली* दोनों ही व्यक्तिगत साक्ष्य के आधार पर रची जाती थीं, अर्थात इसके अंतःतत्वों के निर्धारण में इसके वाचक की महत्वपूर्ण या केंद्रीय भूमिका थी; इनके पाठ के ऊपर नियंत्रण रखने का एकमात्र तरीका सामाजिक दबाव का था, उपहास के माध्यम से या रचनाकारों को दिए जाने वाले उपहार या अनुदानों को रोकने के अलावा संरक्षक परिवारों के पास एक अन्य विकल्प किसी अन्य *चारण* और *भाट* को सेवा में रख लेना था।

2) सामान्यतः *चारण* साहित्य अतिशयोक्तिपरक और कल्पनात्मक रूप लिए होता था।

3) बदलते सांस्कृतिक मूल्य भी इन परंपराओं को प्रभावित करते थे, बदलते हुए सामाजिक मूल्यों का प्रभाव उन *राठौड़ वंशावलियों* में देखा जा सकता है जो तेरहवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारंभिक पूर्वजों का ब्योरा दर्ज करती हैं। इसमें नामों और उनके क्रम को लेकर एक स्पष्ट विसंगति देखने को मिलती है और इनमें से अधिकांश राजाओं की सूची बाद के समय में बढ़ते ज्येष्ठाधिकार पर दिए जाने वाले बल से प्रभावित नज़र आती है।

4) वंशावलियों को सुरक्षित रखने के तरीके के कारण संक्षिप्तीकरण की समस्या सामने आती है, जैसा कि किसी *भाट* की मृत्यु के बाद सबसे बड़े पुत्र को उसकी अधिकांश *बहियाँ* मिलती थीं और किसी विशेष वंशावली के शुरुआती भागों की नक़ल तैयार करते हुए वे शुरुआती सामग्री को संक्षिप्त कर देते थे या सार रूप में ही लिखते थे। अधिकांश वंशावलियों में बड़े पुत्रों या परिवार

के महत्वपूर्ण सदस्यों के विषय में ही अधिक जानकारी मिलती है। 15वीं शताब्दी के बाद के समय से संबंध रखने वाली सामग्री अधिक विश्वसनीय प्रतीत होती है।

बोध प्रश्न-1

1) संक्षेप में *वहीवांचा बारोत* की परम्परा की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

2) मध्यकालीन सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में राजस्थान की वंशावली परम्पराओं ने क्या भूमिका निभायी है?

.....

.....

.....

3) *चारण, भाट* तथा *वहीवांचा बारोत* एक दूसरे से किस प्रकार भिन्न हैं?

.....

.....

.....

10.3 बंगाल के *कुलग्रंथ*

अन्य परम्परा जिसकी हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं उसका संबंध बंगाल से है। इस परम्परागत वंशावली. सामग्री को ***कुलग्रंथ***, *कुलपंजिका* या ***कुलजी*** के रूप में जाना जाता है। *कुल* शब्द परिवार या वंश अर्थात् विस्तारित कुटुंब का संकेत करता है, *ग्रंथ* का मतलब पुस्तक से है, *पंजी* या *पंजिका* का प्रयोग बहियों के लिए होता है। अतः ये इस तरह की पुस्तिकाएँ थीं जिनमें कुलों या वंशों के अनुक्रम लिखे जाते थे। बंगाल के संबंध में *कुल, वर्ण/जाति* व्यवस्था के भीतर अभिजात्य स्तर से संबंधित होने के विचार को भी व्यक्त करता था। यह परम्परा ब्राह्मणीय *कुलवाद* या *कुल-बिधि* की विचारधारा के इर्द-गिर्द संगठित थी।

यह माना जाता है कि *कुलग्रंथ* पहली बार नौवीं/दसवीं शताब्दी में अस्तित्व में आए और आने वाली शताब्दियों में उनकी पुनर्रचना जारी रही, उन्नीसवीं के आखिर तक या संभवतः आरंभिक बीसवीं शताब्दी तक। आर. सी. मजूमदार तथा इंडेन जैसे विद्वानों के अनुसार, आधुनिक विद्वानों को बीसवीं शताब्दी में उपलब्ध अधिकांश *कुलजियाँ* पंद्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी से अधिक पुरानी नहीं हैं (चटर्जी 2005: 178)। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में राम राम बासु और मृत्युंजय विद्यालंकार की कृतियाँ जो क्रमशः 1801/1802 तथा 1808 में प्रकाशित हुई थीं, स्पष्ट रूप से इन परम्पराओं में समाहित सामाजिक स्मृति पर आधारित थीं। कथाओं, कविताओं तथा किंवदंतियों का यह भंडार वंशावलीविद-सह-वैवाहिक मध्यस्थों के द्वारा रचित थीं। ये *कुलजियाँ* संस्कृत तथा बांग्ला, दोनों, भाषाओं रची गई हैं। जहाँ अधिकांश मौखिक रचनाएँ बांग्ला में हैं, लिखित परम्परा ने समान महत्व के साथ दोनों भाषाओं का इस्तेमाल किया है। इस संतुलनकारी उपाय से जहाँ एक ओर संस्कृत के प्रयोग के माध्यम से *कुलग्रंथों* के लिए शास्त्रीय आभा, वैधता और औपचारिक स्वरूप का दावा करना संभव हुआ तो दूसरी ओर बांग्ला के प्रयोग ने *कुलग्रंथों* की व्यापक समुदाय तक पहुँच संभव बनाई।

10.3.1 *कुलग्रंथः* अतीत की परिकल्पना

कुमकुम चटर्जी के अनुसार इन वंशावलियों ने अपने पात्रों, 'चाहे वे कोई कुल हों या कोई राजवंश, की कालगत दीर्घजीविता का स्पष्ट संकेत किया और अतीत के ऐतिहासिक चरित्रों तथा घटनाओं के वर्तमान के साथ परिकल्पित संबंध को इतिहास के एक निरंतर प्रवाह के रूप में देखना संभव बनाया'। उनका यह भी मानना है कि '*कुलजियों* ने अपने प्रकार्य के रूप में प्राक्-आधुनिक बंगाली समाज को अतीत के संबंध में कालानुक्रमिक दृष्टि प्रदान की तथा जाति-आधारित समाज को उत्पत्ति, क्रमिक

विकास और सामूहिक निरंतरता का बोध कराया। इस अर्थ में *कुलजी* उसके अत्यंत निकट बैठती हैं जिसे *इतिहास* से प्राप्त करने की आशा की जाती है, अर्थात्, आत्मोन्नयन, मनोरंजन और शिक्षाओं के उद्देश्य से अतीत का बोध कराना।' इस प्रकार *कुलजियाँ* यह समझने में सहायक हो सकती हैं कि कैसे मध्यकालीन बंगाल में कुछ सामाजिक तबकों ने अपने आस-पास घटित घटनाओं तथा परिवर्तनों को परिकल्पित किया। ये *कुलजियाँ* आधारभूत रूप से यह समझने के लिए महत्वपूर्ण हैं:

- **मध्यकालीन बंगाल के कई महत्वपूर्ण राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थानों का संघटन तथा क्रमिक विकास**

इन *कुलजियों* में उत्पत्ति की कथा स्वयं को पीछे किसी मिथकीय व्यक्तित्व राजा आदिसूर तक ले जाती है, जिसने बंगाल में सामाजिक शुद्धिकरण की प्रक्रिया की शुरुआत की, उत्तर भारत के कन्नौज से बंगाल में आप्रवासन हेतु आनुष्ठानिक और आध्यात्मिक रूप से शुद्धतर पाँच ब्राह्मणों को निमंत्रित कर, जिनके साथ पाँच मूल कन्नौजिया कायस्थ परिवार भी आए। इन आख्यानों में अन्य प्रभावी दो राजपुरूष, सेन वंश के राजा बल्लाल सेन तथा लक्ष्मण सेन थे। बल्लाल सेन को ब्राह्मणों के साथ-साथ कायस्थों के कुछ कुलों को उच्च सामाजिक स्थिति प्रदान कर *कुल-बिधि* की व्यवस्था स्थापित करने वाले के रूप में याद रखा गया है। ये उच्च स्थिति प्राप्त कुल कन्नौजिया आप्रवासियों के वंशज माने जाते थे और इन्हें अपने गुणों और रीतियों में शुद्धतर और उच्चतर माना गया था। इन *कुलजियों* में नौ विशिष्ट गुणों को परिभाषित किया गया है जो कुलीन की स्थिति पाने के लिए आवश्यक माने जाते थे (*नवधा कुल लक्षणम्*)।

इन *कुलग्रंथों* का व्यवस्थापूर्ण क्रमिक विकास बल्लाल सेन और लक्ष्मण सेन द्वारा *कुलवाद* या *कुल-बिधि* या *कुल-मर्यादा* की संस्था की स्थापना के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था। इन शासकों ने सुशिक्षित व्यक्तियों को *कुलाचार्य* के पदों पर नियुक्त किया और ये सुशिक्षित व्यक्ति विभिन्न कुलीन वंशों की विस्तृत वंशावली पंजिकाओं की रचना, निर्माण और संरक्षण के लिए उत्तरदायी थे। इसका उद्देश्य इन वंशों के आदर्श सामाजिक व्यवहार की सामाजिक तथा सामुदायिक स्मृति को बनाए रखना तथा उसे पुनः शक्ति प्रदान करना था। इस प्रकार ये परम्पराएँ स्मृति साहित्य की संपूरक थीं। '*कुलाचार्य*, जिन्हें घटक के रूप में भी जाना जाता था, विभिन्न कुलीन समुदायों के इतिवृत्तकार और अभिलेखकों के रूप में कार्य करते थे और इन समुदायों के भीतर इन्होंने प्रधानों की स्थिति भी हासिल कर ली थी। इनके हाथों में वंशावली सामग्री का संकलन कार्य इतना व्यवस्थित रूप ले चुका था कि इसे एक अनुशासन या शास्त्र अर्थात् *कुलशास्त्र* कहा जाने लगा'(चटर्जी 2005: 176)।

- **राजतंत्र और जाति-आधारित सामाजिक संस्थानों के बीच अंतःक्रिया**

ऐसे तीन तत्व थे, जिन्होंने साथ में मिलकर बदलते समय की आवश्यकताओं के हिसाब से इन परंपराओं को पुनः समायोजित किया और नवीन स्वरूप प्रदान किया। स्थानीय मुखिया या राजा *ज़मींदार, कुलाचार्य/घटक* और *जाति*-आधारित *समाज* या *गोष्ठी* की इन परंपराओं की पुनर्रचना करने तथा इनको नए मूल्य प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका थी।

कुलजियों द्वारा उन विशेष *जातियों* या कुलों के साथ सामाजिक अंतःक्रिया या वैवाहिक संबंधों की निंदा की जाती थी जो उनके लिए निर्दिष्ट सामाजिक अंतःक्रियाओं के नियमों को खंडित करने वाले माने जाते थे।

'ब्राह्मणवाद को उपलब्ध महत्वपूर्ण युक्तियों में से एक *समीकरण* या *एकजाई* जैसे सुधारों के माध्यम से अपनी आंतरिक तथा बाह्य मर्यादाओं का निरंतर निरीक्षण करना था' (चटर्जी 2005: 192)। बल्लाल सेन प्रथम व्यक्ति था जिसने *कुल-मर्यादा* के आदर्शों को संरक्षित करने के लिए सुधार किए। बाद में, प्रख्यात बारेंद्र ब्राह्मण *कुलगुरु* उदयनाचार्य भादुड़ी, जिसे राजा गणेश या श्री गणेश दत्त ख़ान के काल (शासनकाल 1418 सी ई तक) से संबंधित माना जाता है, ने ऐसे ही अन्य सुधारों को लागू किया। चूँकि इन उच्चस्थ बारेंद्र ब्राह्मणों में से बहुतों ने प्रचलित मुस्लिम अभिजात्य संस्कृति को अपनाना और व्यवहार में लाना शुरू किया और साथ ही अपने नाम के साथ ख़ान की उपाधि भी जोड़ने लगे, यह स्वीकृत ब्राह्मणी आदर्शों के लिए चिंता का विषय बन गया। यह अनिवार्य भौतिक सामाजिक संबंध व अंतःक्रिया कारण था कि नए सुधारों को स्थापित करना पड़ा। उदयनाचार्य भादुड़ी ने बारेंद्र ब्राह्मणों के बीच नज़र आने वाले अनिर्दिष्ट या अशुद्ध आचरणों की कोटियाँ निर्धारित कीं। दूसरा, इसके साथ

ही उन्होंने इस प्रकार के असुविधाजनक व्यवहार के लिए समाधान या *व्यवस्था* भी प्रस्तुत की। देबीबार घटक, प्रख्यात राढ़ीय कुलीन ब्राह्मणों में से एक, पंद्रहवीं शताब्दी के आखिर का एक अन्य प्रमुख सुधारक था। बांद्यघोटिया देबीबार मिश्र या देवीबार घटक के सुधारों को *मेल-बंधन* के नाम से जाना जाता है और ये कुलीन राढ़ीय ब्राह्मणों के अभिजात्य *जाति* के ब्राह्मणीय आदर्शों को पुनर्समायोजित तथा पुनर्स्थापित करने का एक प्रयास था। इसके साथ ही यह उच्च वर्गीय मुस्लिमों के साथ घनिष्ठ पेशेवर, सामाजिक तथा सांस्कृतिक संपर्क के कारण सामने आए संकट की प्रतिक्रिया भी था। ऐसे ब्राह्मण समूहों में राढ़ क्षेत्र के पीर अली तथा शेर खानी समुदाय थे और पूर्वी बंगाल के श्रीमंत खानी प्रमुख थे। *कुलजियों* के अनुसार, जिन्हें *मेल-कारिका* कहा जाता है तथा हरी कबिंद्र, दानुजारी मिश्र और हरिहर भट्टाचार्य को इनके सृजन का श्रेय दिया जाता है, इन तीन समाजों ने, विशेष रूप से उच्चस्थ ब्राह्मणों के लिए निर्दिष्ट नियमों का अतिक्रमण किया था।

देबीबार के सुधारों में विभिन्न प्रकार के दोषों को चिह्नित किया गया था, कुलीन राढ़ीय ब्राह्मणों द्वारा रची गई *मेल-कारिकाओं* में सूचीबद्ध एक प्रमुख दोष *यवन दोष* था। यह स्पष्ट है कि यह मुस्लिमों के साथ संपर्क या अंतःक्रिया का संकेत करता था, अतः स्पष्ट है कि इन *जाति*-आधारित समाजों ने स्वयं को बदलते समय के अनुरूप पुनर्परिभाषित करने की कोशिश की और इस कोशिश में *कुलग्रंथों* ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

कुलग्रंथ ब्राह्मणवाद के उसके कल्पित शत्रुओं के साथ संघर्ष को प्रतिबिंबित करते हैं, बारहवीं शताब्दी से पूर्व *कुलजियों* के माध्यम से ब्राह्मणीय आदर्शों ने बौद्ध धर्म तथा गौड़ीय वैष्णव मत के विरुद्ध स्वयं को पुनर्परिभाषित और पुनः मजबूत करने का प्रयास किया। बारहवीं शताब्दी के बाद यह नए मुस्लिम शासक वर्ग के साथ सामाजिक अंतःक्रिया से उपजे संकट के कारण स्वयं को पुनर्परिभाषित करने का प्रयास था।

10.3.2 *कुलग्रंथों* में ऐतिहासिकता की समस्या

इन स्रोतों द्वारा उपलब्ध सूचना की प्रामाणिकता इतिहासकारों के बीच बहस का महत्वपूर्ण विषय रही है। जब आरम्भिक बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी शैली का इतिहास-लेखन सुस्थापित हो चुका था, 'और इसका अनुसरण करने वाले इन ग्रंथों की एक-दूसरे के तथा नए-नए खोजे गए अभिलेखों व स्रोतों की सापेक्ष जाँच-पड़ताल करने लगे। जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया कि इनमें कई अंतर्विरोधी गाथाएँ मौजूद थीं' (गुहा 2019: 82)। चटर्जी का तर्क है कि जहाँ इन परम्पराओं की ऐतिहासिकता को उन्नीसवीं शताब्दी के आख़िर के तार्किक-प्रत्यक्षवाद के अर्थ में सुनिश्चित करना मुश्किल है, *कुलजी* यह समझने के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण हैं कि किस प्रकार *जाति*-आधारित विशेष सामूहिकताओं ने स्वयं को समय की प्रगति के सापेक्ष परिकल्पित किया (चटर्जी 2005)। लेकिन, हमें यह भी स्वीकारना होगा कि ये ग्रंथ सीमित समुदायों को संबोधित करते थे तथा इनका संकीर्ण सामाजिक मंतव्य था (गुहा 2019: 82)।

लेकिन, ये परम्पराएँ सामाजिक स्मृति में होने वाले संक्रमण, किसी विशिष्ट सामाजिक समूह के सामूहिक बोध को समझने के लिए महत्वपूर्ण हैं। चटर्जी इनमें अंतर्निहित दो महत्वपूर्ण समस्याओं को रेखांकित करती हैं:

- पाठगत अस्थिरता; यह इन ग्रंथों को निरंतर प्रतिलिपित और पुनःप्रतिलिपित करने के कारण होता है, और *कुलजियों* का मौखिक आयाम भी इन ग्रंथों के पाठ तथा भावों में परिवर्तन की सम्भावना हमेशा बनाए रखता था।
- पाठ की सरन्ध्रता; इसका तात्पर्य किसी एक ग्रंथ के हिस्सों को दूसरे ग्रंथ में इसका संज्ञान दिए बिना शामिल करने से है, जिससे किसी ग्रंथ की कोई एकल तिथि निर्धारित करना मुश्किल हो जाता है।

बोध प्रश्न-2

1) *कुलग्रंथों* से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

2) *कुलग्रंथों* के सृजन में निहित विचारधारा की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

3) इन *कुलग्रंथ* परंपराओं में सुधार या संशोधन करने का क्या उद्देश्य था?

.....

.....

.....

4) *कुलग्रंथों* में ऐतिहासिकता की समस्या की विवेचना कीजिए।

.....

.....

.....

10.4 कुमाऊँ वंशावलियाँः *वंशावली/पुस्तनामा*

सम्पूर्ण हिमालय क्षेत्र को, पूर्व में नेपाल से लेकर पश्चिम में हिमाचल तक विभिन्न परिवारों की ***वंशावलियों*** को सुरक्षित रखने के लिए जाना जाता है। यह स्पष्ट है कि कुमाऊँ में *वंशावलियों* की व्यवस्था केवल शासक वंश तथा उनके उच्च पदस्थ अधिकारियों, विशेषकर ब्राह्मणों तक सीमित थी। इस प्रकार यह एक अभिजात्य तथा उच्च जातीय परम्परा थी। अपने *गज़ेटियर* में एटकिंसन ने ऐसी वंशावलियों को संकलित किया था जो मध्य हिमालय के शासक परिवारों से संबंधित थीं। कुमाऊँ के चंद तथा गढ़वाल के पंवार इस क्षेत्र के दो प्रमुख सत्ताधारी परिवार थे। अन्य स्थानीय कुलीन परिवारों और बड़े ज़मींदारों की वंशावलियाँ भी उन्होंने संकलित की थीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वंशावलियाँ, मूलतः, दो प्रकार की थीं। एक का संबंध शासक परिवार से था और दूसरे का उच्च पदस्थ ब्राह्मणों के कुल से।

10.4.1 शासक परिवार की वंशावलियाँ

एटकिंसन ने तीन विभिन्न स्रोतों से चंद परिवार की तीन वंशावलियाँ (एटकिंसन 1972: 501-02, 510) एकत्र की थीं, इनमें से एक स्रोत स्थानीय जानकार रुद्रदत्त पंत था, दूसरा एक ब्रिटिश अधिकारी था और तीसरा चंद वंश का अंतिम राजा था। ये वंशावलियाँ, इस प्रकार, उन्नीसवीं शताब्दी के औपनिवेशिक नृशास्त्रियों और इतिहासकारों की सामान्य जानकारी में थीं। एटकिंसन ने इन वंशावलियों का इस्तेमाल अल्मोड़ा के चंद शासकों के अधीन इस क्षेत्र के ऐतिहासिक विकासक्रम पर चर्चा करते हुए किया था। उसने सामान्य तौर पर इन वंशावलियों में किए गए मैदानी क्षेत्रों से आप्रवासन के दावे को स्वीकार कर लिया था। यद्यपि उस समय उसे उपलब्ध कुछ अभिलेखों के आधार पर उसने इस वंश के संस्थापक के रूप में सोमचंद के अस्तित्व पर सवाल उठाया था। गट्ज़ ने एटकिंसन द्वारा इन वंशावलियों और स्थानीय परम्पराओं के आधार पर निर्धारित किए गए चंद वंश के कालानुक्रम को प्रश्नांकित किया (गट्ज़ 1969: 167-81)। इस क्षेत्र में मंदिर वास्तुकला के विकास पर किए गए अपने कार्य के आधार पर उनका निष्कर्ष है कि चंद वंश को ग्यारहवीं शताब्दी सी ई से पूर्व नहीं रखा जा सकता है। लेकिन इन सूचियों में पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद गद्दी पर बैठे शासकों के नामों को अन्य स्रोतों जैसे अभिलेखों से सत्यापित किया जा सकता है ।

इन वंशावलियों को उपमहाद्वीप में प्रचलित व्यापक वंशावलीय परम्परा के अंतर्गत कोटिबद्ध किया जा सकता है। व्हिट्ज़ेल ने राजवंशावलियों की एक विशेष परम्परा की ओर हमारा ध्यान खींचा है जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण नेपाल की *गोपालराजवंशावली* है, इसी श्रेणी में उसने मध्य हिमालय क्षेत्र के कुमाऊँ और गढ़वाल क्षेत्र की और हिमाचल के चंबा की वंशावलियों को रखा है। व्हिट्ज़ेल ने अपने विश्लेषण में यह भी संकेत किया है कि इस तरह की वंशावलियों का इस्तेमाल 12वीं शताब्दी के कश्मीरी लेखक कल्हण द्वारा अपने ग्रंथ *राजतरंगिणी* में किया गया है (व्हिट्ज़ेल 1990: 6, 56)।

10.4.2 विशिष्ट ब्राह्मण वंशों की वंशावलियाँ

ये वंशावलियाँ विशिष्ट ब्राह्मण कुलीनों से संबंधित हैं, ये कुल राजपरिवार के दरबार से जुड़े हुए थे और मध्यकालीन कुमाऊँनी समाज में शक्तिशाली पदों पर क़ाबिज़ थे। इन दस्तावेज़ों को गाँव स्तर पर रचा तथा उन्हें परिवर्धित (updated) किया जाता था और अधिकांशतः एक ही मूल-पुरुष से उत्पन्न विस्तृत कुटुम्ब की शाखाओं तथा उपशाखाओं को इसमें शामिल किया जाता था। इन वंश अनुक्रमों को दर्ज करने के लिए कोई विशेष वर्ग नहीं होता था बल्कि उस संबंधित कुल के सदस्यों द्वारा ही किया जाता था। इन वंशावलियों में से दो को अठारहवीं शताब्दी में रचित दो साहित्यिक भाष्यों में समाहित किया गया है। इसमें से एक का संबंध *सिलवाल जोशियों* से है, जो अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में त्रिलोचन द्वारा लिखित *भक्तिप्रबंधकाव्यम* में संकलित पांडुलिपि रूप में है। इसमें इस वंश के संस्थापक लंकाराजा से लेकर 22 पीढ़ियों को दर्ज़ किया गया है। इस *वंशावली* के अनुसार, लंकाराजा सोमचंद के शासनकाल में कुमाऊँ आया और उसके पुत्र को चंद परिवार के *पुरोहित* के रूप में नियुक्त किया गया था। अन्य वंशावली का संबंध सिमल्टिया पांडे के कुल से है। इस *वंशावली* की रचना पद्मदेव द्वारा *जगच्चन्द्रिका* (*रघुवंशम्* पर एक भाष्य) के एक हिस्से के रूप में, मध्य अठारहवीं शताब्दी में की गई थी। यह वंश के संस्थापक हरिहर, जो वंशावली के अनुसार सोमचंद के साथ आया था, से लेकर 25 पीढ़ियों को दर्ज़ करती है। इन वंशावलियों के अतिरिक्त, ड्योलिया पांडे, गर्ग-गोत्रीय जोशी और उपमन्यु गोत्रीय जोशियों की वंशावलियाँ हैं जिनका एम. पी. जोशी द्वारा विश्लेषण और अवलोकन किया गया है। उनका कथन है कि इनकी रचना और संकलन बाद के समय में हुआ है, इनमें से सभी यह दावा करती हैं कि उनका कुल-विशेष चंद्र/चंद राज-परिवार के संस्थापक सोमचंद के साथ आया था। ये वंशावलियाँ दो विषयों को लेकर बिल्कुल स्पष्ट हैं:

1) ये वंशावलियाँ जिस वंश से संबंध रखती हैं उसे राज-परिवार के मिथकीय संस्थापक के साथ जोड़ती हैं तथा इस क्षेत्र में उस राजपरिवार की स्थापना के समय अपने वंश के पूर्वज द्वारा धारण किए गए मूल पद का उल्लेख करती हैं।

2) उन वंशों का उच्च आनुष्ठानिक और सामाजिक स्थान जिनसे इन वंशावलियों का संबंध है।

इन वंशावलियों में कुछ विसंगतियाँ पाई जाती हैं:

1) इन सभी वंशावलियों में वर्तमान समय तक दी गई पीढ़ियों की संख्या में अंतर नज़र आता है। अगर इन वंशों के पूर्वज एक ही समय पर आए हों तो इनके वंश-क्रम में पीढ़ियों की संख्या भी समानांतर होनी चाहिए थी, साथ ही इन वंशावलियों को चंद/चंद्र राजाओं की वंशावली के साथ तुलना करने पर गुज़री हुई पीढ़ियों की संख्या में विसंगति नज़र आती है।

2) विभिन्न परिवारों द्वारा *गुरु, पुरोहित* और *दीवान*, इत्यादि के रूप में चंद्र वंश की स्थापना की शुरुआत से ही वंशानुगत पद धारण करने का दावा कई बार चंद्र वंश के उपलब्ध ताम्रपत्रों से समर्थन नहीं पाता है।

एम. पी. जोशी ने इन मिथकीय परिकल्पनाओं की व्याख्या अल्मोड़ा में 1743 सी ई में हुए रोहिल्लाओं के आक्रमण के बाद दरबार में हुए षड्यंत्रकारी घटनाक्रमों के रूप में की है जब कुछ ब्राह्मण वंशों ने शक्तिशाली पदों को ग़ैर-ब्राह्मण अधिकारियों से हड़पने का प्रयास किया था और बाद के समय में गोरखा तथा औपनिवेशिक शासन के दौरान सत्ता की संरचना ने वैधता हेतु इन विचारों को एक प्रमुख युक्ति बना दिया था (जोशी 1990: 219)।

कुमाऊँ क्षेत्र से कुछ अन्य वंशावलियाँ प्राप्त होती हैं, किंतु इनका संबंध उन क्षेत्रों से नहीं है जहाँ राजनीतिक सत्ता स्थापित थी। इन वंशावलियों में हम मैदानी क्षेत्रों से आप्रवासन का कोई भी ठोस प्रमाण नहीं पाते हैं, ना ही राजवंश की उत्पत्ति के मिथक के संबंध में ही कोई उल्लेख है, लेकिन इन वंशावलियों में पूर्व (अर्थात नेपाल) की ओर जाने के संदर्भ लगातार मिलते हैं। इनमें से कुछ में यह भी उल्लेख है कि कब किस वंश के किसी पूर्वज ने प्रथम बार राज-परिवार के सदस्य के साथ भोजन किया था, जैसा कि इसे एक विशेष अवसर माना जाता था, प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाने का अवसर। इन वंशावलियों में स्त्रियों का कोई भी विशिष्ट स्थान नहीं है, केवल वंश विशेष के पुरुषों की पत्नियों के रूप में उनका उल्लेख *जेठी* (ज्येष्ठ पत्नी), *मंजरी* (बीच की पत्नी) और *सुंदरी* (कनिष्ठ पत्नी) के

रूप में किया गया है, किंतु कोई भी नाम नहीं दिए गए हैं। कभी-कभी होने वाले कौटुंबिक व्यभिचार का उल्लेख मिलता है, जिसका परिणाम सामाजिक बहिष्कार के रूप में होता था।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि कम से कम 18वीं शताब्दी से यह वंशावली परम्पराएँ अस्तित्व में थीं। यद्यपि इनमें ऐसे अतीत को प्रस्तुत किया गया था जिसका संबंध बहुत पहले के समय से था। इन वंशावलियों को निरंतर अद्यतन (update) किया जाता था और इसने इनमें बदलाव किए जाने के प्रति संवेदनशील बना दिया था। यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि राज-परिवार के परिप्रेक्ष्य में इन ब्राह्मणों का सामाजिक-राजनीतिक दर्ज़ा इन वंशावलियों की पुनर्निर्मिति तथा इन्हें नए स्वरूप को परिभाषित करने वाला एक प्रमुख कारक था।

10.5 *तीर्थ* वंशावलियाँ

तीर्थ वंशावलियों को भारत के विभिन्न तीर्थ-स्थानों में ब्राह्मण *पंडों* द्वारा दर्ज और व्यवस्थित किया जाता है। हरिद्वार कुरुक्षेत्र और पुरी ऐसे विख्यात केंद्र है जहाँ हमें इस तरह की परम्परा देखने को मिलती है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में तीर्थ यात्रा हमेशा से एक सारभूत धार्मिक कर्तव्य रहा है। मंदिरों, नदियों, पर्वतों, सागरों के आस-पास केंद्रित विभिन्न स्थान हैं और इन स्थानों में अनुष्ठानों का निष्पादन *तीर्थ पुरोहितों* द्वारा किया जाता है (चक्रवर्ती 2015)। इनमें से कुछ स्थानों में तीर्थ यात्रियों के संबंध में विवरण को दर्ज करने की परम्परा है, जब वे यहाँ की यात्रा पर आते हैं। दिलचस्प रूप से इन दस्तावेज़ों को विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है और सदियों से इन्हें व्यवस्थित रूप से दर्ज किया जा रहा है और अभी भी यह एक जीवित परम्परा के रूप में विद्यमान है। सदियों से इस परम्परा का जीवित रहना ही इस परम्परा के गहरे महत्व की ओर संकेत करता है। इन तीर्थ स्थलों के दस्तावेज़ों में यात्रियों की कई पीढ़ियों की जानकारी उनके कुल के अनुसार लिखी जाती है और अक्सर ही किसी विशेष वंश या परिवार के दस्तावेज़ों को एक निश्चित पुरोहित द्वारा लिखा जाता है और उसकी मृत्यु के बाद इन दस्तावेज़ों को उसके वंशज सँभाल कर रखते हैं, पुरोहितों और तीर्थयात्रियों की उत्तरोत्तर पीढ़ियों के बीच निरंतर होने वाली यह अंतःक्रिया की प्रक्रिया एक विशेष प्रकार के धार्मिक तथा आनुष्ठानिक संबंध के माध्यम से होती है जो भारतीय समाज में अस्तित्व में रही *जजमानी* व्यवस्था के समान है। यह पीढ़ीगत अंतःक्रिया दस्तावेज़ों को अद्यतन बनाए रखती है। समय के गुज़रने के साथ, समय-समय पर जानकारियों को अद्यतन बनाए जाने के कारण यह एक वंशावली दस्तावेज़ का रूप ले लेता है। दूसरे शब्दों में, कोई भी इन दस्तावेज़ों के माध्यम से किसी विशेष परिवार के लिए एक वंश-वृक्ष या उसकी पीढ़ियों की शाखाओं को चिह्नित कर सकता है।

जगन्नाथ मंदिर में इस परम्परा को ***वारजा*** या ***वारिजा*** कहते हैं। *वारजा* की व्यवस्था मंदिर की सेवाओं का ही एक हिस्सा है और *पंडों* के एक समूह, विशेषकर *प्रतिहारी पंडों,* को यह कार्य सौंपा गया है, इन्हें *जात्री* पंडा भी कहा जाता है क्योंकि वह तीर्थयात्रियों (*जात्रियों*) को सेवा प्रदान करते हैं। इन *पंडों* को पुराने समय में ताम्रपत्र भी प्रदान किए गए थे जिनमें उन्हें उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों के विशेष शासक परिवारों का कुल पुरोहित घोषित किया गया है। हरिद्वार में इन दस्तावेज़ों को *बंशाबली* कहा जाता है और इसे दो प्रकार के *पंडों – तीर्थ पुरोहित* और *महाब्राह्मण* – के द्वारा व्यवस्थित रखा जाता है। इनमें से पहले प्रकार के पुरोहित उच्च जातियों के दस्तावेज़ों को व्यवस्थित रखते हैं, वही दूसरे पुरोहित अन्य जातियों की जानकारी को दर्ज करते हैं। इन *बंशाबलियों* को दो पृथक पंजियों में दर्ज किया जाता है, इनमें से एक को *चोपता खाता* और दूसरे को *बही-खाता* कहा जाता है। *चोपता खाता* में तीर्थ यात्री की प्रारंभिक जानकारी जैसे यात्री का नाम, उसका गाँव, उसका गोत्र, पिता का नाम, पितामह का नाम, इत्यादि दर्ज किया जाता है। वहीं *बही-खातों* में इन जानकारियों को *वर्ण* क्रम के अनुसार सूचीबद्ध किया जाता है। कामाख्या मंदिर, असम में इन्हें मंदिर के ऐसे सेवादारों द्वारा व्यवस्थित किया जाता है, जिन्हें *पंडा* या *बढ़देवड़ी* और *नानांदेवड़ी* के नाम से भी जाना जाता है। इन बहियों को स्थानीय स्तर पर *जात्रिक खाता* के रूप में भी जाना जाता है। ये ब्राह्मण ये दावा करते हैं कि इन्हें अहोम राजा इस पवित्र तीर्थ में कर्मकांडों के संपादन के लिए कन्नौज, मिथिला और बंगाल से लाए थे तथा यहाँ बसने के लिए उन्हें भूमियाँ प्रदान की गई थीं।

बसोली कलम की चित्रकला, विशेष रूप से गुलेर के नैनसुख के चित्रों, पर अपने कार्य में गोस्वामी ने हरिद्वार तथा कुरुक्षेत्र में उपलब्ध वंशावली *बहियों* का इस्तेमाल किया है। गोस्वामी ने भारत के

विभिन्न तीर्थस्थानों में जाकर गुलेर, नूरपुर, चंबा तथा काँगड़ा के परिवारों के उपलब्ध ब्योरों की जाँच-पड़ताल की और इस प्रकार वे सौभाग्यशाली थे कि उन्हें महान् *पहाड़ी* चित्रकार नैनसुख के परिवार के विवरण उपलब्ध हुए (गोस्वामी 2011: 11-12)। लेकिन, इन दस्तावेज़ों का ऐतिहासिक शोध के क्षेत्र में अधिक प्रयोग नहीं किया गया है। सम्भवतः इसका कारण इनका वर्तमान में भी व्यावहारिक प्रयोग में बने रहना है।

यह देखा जा सकता है कि ये परम्पराएँ एक प्रकार की ऐतिहासिक चेतना की ओर संकेत करती हैं, जिसे इन बहियों के माध्यम से व्यक्त किया जाता था, जैसा कि यहाँ आने वाले यात्री अपने उन पूर्वजों से संबंध स्थापित करने की कोशिश करते थे जिन्होंने उसी तीर्थ में आकर इसी तरह पवित्र धार्मिक कर्तव्यों का निर्वाह किया था। ये दस्तावेज़ उन्हें बोध कराते हैं कि उनका और उनके वंश का अस्तित्व केवल उस वर्तमान से ही नहीं बंधा है जिसमें वे विद्यमान हैं बल्कि उनके पूर्वजों की एक ऐसी परम्परा रही है जो उनसे पूर्व जीवित रहे हैं तथा इन तीर्थों में आकर अपने धार्मिक कर्तव्यों का निर्वाह करते रहे हैं। लेकिन, इन दस्तावेज़ों में अधिकांशतः तिथियाँ नहीं दर्ज की गई हैं। और हमें यह स्पष्ट होना चाहिए कि केवल 18वीं शताब्दी से ही ये दस्तावेज़ अधिक विश्वसनीय हैं। इन दस्तावेज़ों की नक़ल उतारने और प्रतिलिपि बनाने ने उन्हीं समस्याओं को पैदा किया जिनका हमने *कुलजियों* के संदर्भ में **उपभाग 10.3.2** में विवेचन किया है ।

10.6 पारिवारिक दस्तावेज़

यद्यपि ऊपर हमने जिन दस्तावेज़ों या परंपराओं की बात की है, वे स्वयं में किसी परिवार या वंश को केंद्र में रखकर ही गढ़े गए हैं या उनमें वंश परम्परा का केंद्रीय महत्व है, इस तरह से वे भी कुटुम्ब-आधारित इतिहास ही हैं। लेकिन, हम यहाँ कुछ अलग तरह के लिखित दस्तावेज़ों की चर्चा करेंगे जो किसी कुटुम्ब विशेष, जैसे व्यापारिक या बैंकिंग घराने की गतिविधियों से सृजित होते हैं या ऐसे परिवारों के किसी सदस्य की आत्मकथा या अन्य प्रकार के लेखनों से अस्तित्व में आते हैं। यहाँ उदाहरण के तौर पर हरि-भक्ति परिवार के दस्तावेज़ों की चर्चा की जा रही है, ये दस्तावेज़ वर्तमान में एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा के इतिहास विभाग में संकलित हैं। ये उन दस्तावेज़ों से या परंपराओं, जिनकी ऊपर चर्चा की गई है, से इस प्रकार भिन्न हैं कि ये किसी कुटुम्ब की उत्पत्ति या अपनी समकालीन राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्थाओं के साथ किसी वंश की प्रतिष्ठा या दर्जे को लेकर किसी अतीत का निरूपण नहीं करते हैं बल्कि ये मुख्यतः उन परिवारों की व्यापारिक गतिविधियों तथा इस संबंध में राजसत्ता के साथ उनके संबंधों की ओर संकेत करते हैं। ऐसा ही एक गुजराती बैंकिंग घराना था हरि-भक्ति कुटुम्ब का। इन्होंने पेशवा के राजनीतिक केंद्र पूना में अपना दफ़्तर खोला। इनके दस्तावेज़ यह जानने में सहायक हैं कि किस तरह बड़े व्यापारी मराठा राज्य में कई बड़ी भूमिकाओं का निर्वाह करते थे। यद्यपि इनके शुरुआती इतिहास के विषय में तो बहुत ज्ञात नहीं है किंतु यह पता चलता है कि बड़ौदा के निकट के गाँव से संबंध रखने वाले दो भाइयों, हरि तथा भक्ति ने, गायकवाड़ों के राज्य में, मध्य अठारहवीं शताब्दी में वित्तीय भूमिका निभाने में केंद्रीय भूमिका पा ली थी और पानीपत के युद्ध (1761) के बाद उन्होंने अपनी शाखा पूना में भी खोली। और इस तरह ये पेशवा के *पोतेदारों* की सूची में भी शामिल हो गए।

इन पांडुलिपियों से अठारहवीं शताब्दी के प्रथम उत्तरार्द्ध से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक हमें पश्चिमी भारत के बड़े हिस्से में जारी व्यापारिक तथा वाणिज्यिक गतिविधियों, जैसे महाजनी, देशज बैंकिंग प्रणाली, मुद्रा प्रणाली, इत्यादि के संबंध में जानकारी मिलती है। ये मुख्यतः गुजराती तथा मराठी भाषा में तथा मोढ़ी लिपि में हैं। इस परिवार ने राज्य के साथ अपने संबंधों तथा अपने निजी मामलों को लिखित रूप में दस्तावेजबद्ध करने का एक विशेष तरीका अपनाया। इन दस्तावेज़ों में शामिल हैं; *बही* या *वही*, *चिट्ठी*, *हुंडी*, जमा-खर्च तथा अन्य इसी प्रकार के दस्तावेज़, जो न केवल गायकवाड़ राज्य के साथ वित्तीय संबंधों पर रोशनी डालते हैं, बल्कि *बहियों* के बाद के हिस्से में बैंकरों, महाजनों तथा व्यापारियों की बड़ौदा राज्य के साथ ही अहमदाबाद, जम्बूसर, नवसारी, भडुच तथा दभोई में गतिविधियों को प्रकाश में लाते हैं। पश्चिमी भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रभावी स्थिति हासिल कर लेने के बाद इस घराने ने अपने वाणिज्यिक हितों को कम्पनी के साथ जोड़ लिया।

इसी तरह के दस्तावेज़ों का इस्तेमाल करके जे.एच. लिटिल ने 1920-21 में बंगाल के जगत सेठ के परिवार का इतिहास लिखा था। उसने उल्लेख किया है कि अपने अध्ययन में उन्होंने इंडिया ऑफ़िस रेकॉर्ड, *सियार-उल मुतखरीम, रियाज-उस सलातीन* तथा जगत सेठ के पारिवारिक दस्तावेज़ों का प्रयोग किया है। साथ ही जगत सेठ परिवार में प्रचलित अतीत-संबंधी परम्पराओं का भी। यह इतिहास मुख्यतः 1717 से 1767 की गतिविधियों पर केंद्रित है। लिटिल ने इसे इस बैंकिंग परिवार के इतिहास के रूप में संकलित किया है, किंतु यह भी बंगाल में राजनीतिक तथा वाणिज्यिक शक्तियों के परस्पर संबंध को महत्वपूर्ण ढंग से सामने लाता है। हीरानंद साहू ने इस बैंकिंग घराने की स्थापना की थी, वह 1652 में मारवाड़ से पटना आया और वहाँ एक *कोठी* स्थापित कर कम्पनी के कर्मचारियों को शोरा खरीदने के लिए उधार देने लगा, बाद में उसके सात बेटों में सबसे बड़ा बेटा मुग़ल *सूबे* बंगाल के केंद्र ढाका चला आया तथा वहाँ स्वयं को स्थापित किया। इस तरह बंगाल के इतिहास में यह घराना अठारहवीं शताब्दी में काफ़ी महत्वपूर्ण हो गया था, जिसके बारे में सुविख्यात ही है।

इस प्रकार स्पष्ट है, इस तरह के घरानों में अपनी वाणिज्यिक गतिविधियों के संबंध में दस्तावेज़ों को सुरक्षित रखने की परम्परा रही थी। इस तरह के दस्तावेज़ हमें व्यापारिक गतिविधियों के साथ ही इन परिवारों के राजसत्ता के साथ संबंधों को तो बताते ही हैं, साथ ही यह भी पता चलता है कि किस तरह इन गतिविधियों के बीच कुछ परिवारों का समय के साथ-साथ विकास हुआ और कैसे पूर्व-आधुनिक भारत में व्यापारिक-वाणिज्यिक संस्थानों के केंद्र में वंश या परिवार का महत्व बना हुआ था।

बोध प्रश्न-3

1) कुमाऊँ क्षेत्र में किस प्रकार की वंशावली परम्पराएँ पायी जाती हैं?

.....

.....

.....

2) कुमाऊँनी *वंशावलियों* की संरचना की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

3) *तीर्थ* वंशावलियों की परम्परा किन स्थानों में पायी जाती हैं?

.....

.....

.....

4) विभिन्न स्थानों में *तीर्थ* वंशावलियों को किस प्रकार व्यवस्थित रखा जाता है, इसका विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

5) हरी-भक्ति दस्तावेज़ों की प्रकृति की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

6) कुछ व्यावसायिक परिवारों ने विशेष प्रकार के दस्तावेज़ों की रचना क्यों की?

.....

.....

.....

10.7 सारांश

इस इकाई में हमने विभिन्न प्रकार की ऐतिहासिक परंपराओं के बारे में अध्ययन किया, जिनके केंद्र में वंश या कुल का अस्तित्व था। ये परम्पराएँ किसी वंश या जाति समूह को आधार रूप में स्वीकारते हुए, अतीत के संबंध में विचार करती हैं। चूँकि अधिकांश परम्पराएँ राजनीतिक, धार्मिक या आर्थिक रूप से शक्तिशाली सामाजिक समूहों से संबंध रखती हैं, इनकी अतीत की स्मृति सीमित तथा संकुचित होती है तथा अपनी वर्तमान परिस्थितियों को प्रतिष्ठित करने पर ध्यान देती हैं। एक ओर जहाँ राजपूतों पर केंद्रित *भाट/चारणों* की *वंशावली* परम्परा है, तो बंगाल के कुलीनों को महत्व देने वाली *कुलग्रंथों* की परम्परा है, इसी तरह कुमाऊँ की *वंशावली* परम्परा है जो वहाँ के स्थानीय समाज के बीच कुछ विशेष ब्राह्मण परिवारों के दर्जे को ऊँचा घोषित करने का प्रयास करती है।

इनसे कुछ भिन्न, किंतु वंश को केंद्र में रखते हुए ही, *तीर्थ* के *पंडों* द्वारा अपनी *बहियों* में दर्ज वंश-क्रम भी हैं, यद्यपि इनका सरोकार अपने *यजमानों* का लेखा-जोखा रखना तथा *पंडों* के रूप में अपनी प्रामाणिकता साबित करना है। इसके अलावा हमने व्यापारिक घरानों द्वारा सृजित किए गए दस्तावेज़ों की चर्चा भी की है, जो इन खानदानों तथा इनके व्यापारिक-राजनीतिक संबंधों के उभरने पर विशेष प्रकाश डालती हैं।

10.8 शब्दावली

चारण — *चारण* राजपूत समाज के गाथा-कार और कवि थे, जिनका अपने संरक्षक राजपूत वंश से आनुवांशिक संबंध होता था। *चारण* विशेष अवसरों पर अपने संरक्षक परिवारों द्वारा बुलाए जाने पर गीतों तथा गाथाओं का पाठ करते थे। इन आख्यानात्मक गीतों को *बात* या *वात* या *वातम* कहते थे

भाट — ये विशेषज्ञ *पीढ़ियावलियों* (पीढ़ियों की श्रृंखला) की रचना करते थे। *भाट* (संस्कृत *भट्ट* से) शब्द का अर्थ मूल रूप से 'प्रार्थनाओं, प्रशस्तियों और मंगलाचरण के जानकार से होता था' किंतु यह बाद में वंशावलियों के विशिष्ट ज्ञान रखने वालों का संकेत करने लगा। प्रत्येक जाति का अपना *भाट* था, जिन्हें विभिन्न नामों से जाना जाता था, जो इस पर आधारित होता था कि वे किस जाति की सेवा में लगे हुए हैं। उदाहरण के लिए, राजपूतों को सेवा देने वाले *भाटों* को *वर्वा* कहा जाता था। इन वंशावलियों को विस्तृत *बहियों* में लिखा जाता था, और ये *भाटों* की ही संपत्ति समझी जाती थीं

वहीवांचा बारोत — मध्य तथा उत्तर गुजरात में *भाटों* के समूह से वंशावली रचने वालों के एक विशेष समुदाय का उदय हुआ जिसे *वहीवांचा बारोत* के नाम से जाना जाता था। *वहीवांचा बारोत* लिखित रूप में अपने दस्तावेज़ों को रखते थे। शाब्दिक रूप से *वहीवांचा* का तात्पर्य *बही/वही* को बांचने या पढ़ने वालों से है

कुलग्रंथ/कुलजी — बंगाल से संबंध रखने वाली परम्परागत वंशावली-सामग्री को *कुलग्रंथ, कुलपंजिका* या *कुलजी* के रूप में जाना जाता है। *कुल* शब्द परिवार या वंश अर्थात् विस्तारित कुटुंब का संकेत करता है, *ग्रंथ* का मतलब पुस्तक से है, *पंजी* या *पंजिका* का प्रयोग बहियों के लिए होता है। अतः ये इस तरह की पुस्तिकाएँ थीं जिनमें *कुलों* या वंशों के अनुक्रम लिखे जाते थे। इन दस्तावेज़ों को वैवाहिक रिश्ते तय करने वाले *घटकों* द्वारा तैयार, संकलित तथा व्यवस्थित रखा जाता था

वंशावली — अधिकांश वंशानुक्रमों को दर्ज करनी वाली परम्पराओं को *वंशावलियों* के रूप में जाना जाता है। राजस्थान में इन्हें परिवारों द्वारा स्वयं रखा

जाता था और ये उन्हीं की सम्पत्ति मानी जाती थीं। पारंपरिक रूप से इन्हें उन जानकारों द्वारा दर्ज किया जाता था जो घरों पर आकर इनमें नई प्रविष्टियाँ करते थे। इस तरह की *वंशावलियाँ* कुछ विशेष परिवारों के पास ही सुरक्षित पाई गई हैं, जैसे स्थानीय शासक या महत्वपूर्ण *ज़मींदारों* के परिवार। कुमाऊँ में भी ऐसी *वंशावलियों* को उन्हीं वंशों के ब्राह्मणों द्वारा व्यवस्थित किया जाता था, जिनसे यह संबंधित थीं। हरिद्वार की *तीर्थ* वंशावलियों को भी *वंशावली* या *वंशावलियों* की *बही* कहा जाता है

वारजा जगन्नाथ मंदिर में मौजूद वंशावली दस्तावेज़ों को *वारजा* या *वारिजा* कहा जाता था। *वारजा* की व्यवस्था मंदिर की सेवाओं का ही एक हिस्सा है और *पंडों* के एक समूह, विशेषकर *प्रतिहारी पंडों*, को यह कार्य सौंपा गया है, इन्हें *जात्री पंडा* भी कहा जाता है

हरि-भक्ति दस्तावेज़ ये दस्तावेज़ हरि-भक्ति परिवार, बड़ौदा राज्य का एक प्रमुख व्यावसायिक परिवार, से संबंध रखते हैं। इनसे हमें अठारहवीं शताब्दी के प्रथम उत्तरार्द्ध से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक पश्चिमी भारत के बड़े हिस्से में जारी व्यापारिक तथा वाणिज्यिक गतिविधियों, जैसे महाजनी, देशज बैंकिंग प्रणाली, मुद्रा प्रणाली, इत्यादि के संबंध में जानकारी मिलती है

10.9 बोध प्रश्नों का उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 10.2
2) इन परंपराओं के क्रमिक विकास तथा मध्यकालीन समाज में इनकी भूमिका की चर्चा कीजिए। देखें भाग 10.2
3) देखें भाग 10.2

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 10.3
2) देखें उप-भाग 10.3.1
3) देखें उप-भाग 10.3.1
4) देखें उप-भाग 10.3.2

बोध प्रश्न-3

1) देखें भाग 10.4
2) देखें उप-भाग 10.4.1, 10.4.2
3) देखें भाग 10.5
4) देखें भाग 10.6
5) देखें उप-भाग 10.6

10.10 संदर्भ ग्रंथ

एटकिंसन, ई.टी., (पुनःमुद्रित 1972) द *हिमालयन गज़ेटियर*, भाग 2, खंड 2 (दिल्लीः काज़्मो पब्लिकेशन).

चक्रबर्ती, ककाली, (संपा.) (2015) *जीनीयलॉजिकल रेकड्र्ज़ एंड ट्रेडिशनल नॉलेज सिस्टम* (नई दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस).

चटर्जी, कुमकुम, 2005) 'बंगाल कम्यूनिटीज़, किंग्स एंड क्रानिकल्ज़ः द कुलग्रंथास ऑफ़ बेंगाल', *स्टडीज़ इन हिस्ट्री;* भाग 21: 173.

गट्ज़, एच., (1969) 'द क्रॉनॉलॉजी ऑफ़ द चंद डायनस्टी एंड द मेडीवल मोनुमेंट्स ऑफ़ कुमाऊँ', *स्टडीज़ इन द हिस्ट्री एंड आर्ट ऑफ़ कश्मीर एंड द इंडियन हिमालया*, पृ. 167-81 (वीसबाडनः ऑटो हारसोवित्ज़).

गोस्वामी, बी. एन., (2011) *नैनसुख ऑफ़ गुलेरः अ ग्रेट इंडियन पेंटर फ्रॉम अ हिल स्टेट* (नई दिल्लीः नियोगी बुक्स).

गोस्वामी, बी. एन., (1964) 'पहाड़ी पेंटिंगः द फ़ैमिली एज़ द बेसिस ऑफ़ स्टाइल', *मार्ग*, भाग XXI, नं. 4.

गुहा, सुमित, (2019) *हिस्ट्री एंड कलेक्टिव मेमरी इन साउथ एशिया 1200-2000* (सीऐटलः यूनिवर्सिटी ऑफ़ वॉशिंगटन प्रेस).

जोशी, एम. पी., (1990) 'कुमाऊनी वंशावलिज़ः मिथ एंड रीऐलिटी', *हिमालयन पास्ट एंड प्रेजेंट*, (संपा.) जोशी, एम. पी.; ऐलन सी. फ़ैंगर, चार्ल्स डब्ल्यू. ब्राउन (अल्मोड़ाः अल्मोड़ा बुक डिपो).

लिटल, जे. एच., (1967 [1920]) *द हाउस ऑफ़ जगत सेठ* (कलकत्ताः कलकत्ता हिस्टोरिकल सोसायटी).

नॉर्ग्रेन, केनेथ, (2019) 'बाउंड्रीज ऑफ़ हिस्टोरिकल कॉन्शिएसनेसः अ वेस्टर्न कल्चरल अचीव्मेंट ऑर ऐन ऐन्थ्रॉपलॉजिकल यूनिवर्सल?', *जर्नल ऑफ़ कर्रिकुलम स्टडीज़*, भाग 51, नं. 6, पृ. 779-797.

शाह, ए. एम. एवं आर. जी. श्रॉफ़, (1984) 'ट्रेडिशनल जीनीआलजिस्टः बारोत ऑफ़ गुजरात', ऐलन बेर्नार्ड और एंथनी गुड्ज़, (संपा.) *रीसर्च प्रैक्टिसेज़ इन द स्टडी ऑफ़ किन्शिप, रीसर्च मेथॉड्ज़ इन सोशल ऐन्थ्रॉपॉलॉजी*, भाग 2 (लंदनः एकेडमिक प्रेस).

व्हिट्जेल, माइकेल, (1990) 'ऑन इंडियन हिस्टोरिकल राइटिंगः द रोल ऑफ़ वंशावलीज़', *जर्नल ऑफ़ द जापानीज़ एसोसिएशन फ़ॉर द साउथ एशियन स्टडीज़.*

त्रिपाठी, द्विजेंद्र, (2004) *द आक्स्फ़र्ड हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन बिज़नेस* (नई दिल्लीः ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

ज़िग्लर, नॉर्मन, पी., (1976) 'मारवाड़ी हिस्टोरिकल क्रानिकल्ज़ः सोर्सेज़ फ़ॉर द सोशल एंड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ़ राजस्थान', *द इंडियन एकोनोमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, 13(2): 219-250.

10.11 शैक्षणिक वीडियो

हरिद्वार स्टोरी
https://www.youtube.com/watch?v=2h554UDi5Dc

इकाई 11 *बखर और बुरँजी*[*]

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 साहित्यिक आख्यानों के रूप में *बखर* और *बुरँजी*

11.3 *बखर*

- 11.3.1 भाषायी और सामाजिक उत्पत्ति
- 11.3.2 स्वरूप, विषयवस्तु तथा समयरेखा
- 11.3.3 संरक्षण, लेखकत्व तथा प्रामाणिकता
- 11.3.4 आलोचना और महत्व

11.4 *बुरँजी* क्या है?

11.5 *बुरँजियों* का चयन, संग्रह और प्रस्तुति

11.6 उत्पत्ति

11.7 कुछ *बुरँजियाँ*

- 11.7.1 *देउधाइ बुरँजी*
- 11.7.2 *कामरूपोर बुरँजी*
- 11.7.3 *पादशाह (बादशाह) बुरँजी*
- 11.7.4 *त्रिपुरा बुरँजी*
- 11.7.5 *तुंगखुंगिया बुरँजी*

11.8 सारांश

11.9 शब्दावली

11.10 बोध प्रश्नों का उत्तर

11.11 संदर्भ ग्रंथ

11.12 शैक्षणिक वीडियो

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप सक्षम हो पाएँगे:

- अतीत को समझने के लिए ***बखरों*** की एक महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में पहचान करने में,
- *बखर* के सामाजिक और शब्दशास्त्रीय मूल को समझने में,
- *बखरों* को लिखवाए जाने और इनकी रचना को समझने में,
- ***बुरँजी*** के ऐतिहासिक मूल को चिह्नित कर पाने में, और
- असम के इतिहास के निर्माण में *बुरँजियों* के ऐतिहासिक महत्व को रेखांकित करने में।

11.1 प्रस्तावना

मौखिक परम्परा और लिखित ग्रंथों, दोनों, में मौजूद ऐतिहासिक चेतना क्षेत्र-विशेष की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है जिसे निरंतर आगामी पीढ़ियों को हस्तांतरित कर सुरक्षित बनाए रखा जाता है।

[*] डॉ. रचना मेहरा, स्कूल ऑफ ग्लोबल अफ़ेयर्स, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली; तथा डॉ. धारित्री नरज़ारी चक्रवर्ती, स्कूल ऑफ लिबरल स्टडीज़, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली

अतीत का प्रत्येक रूप या संस्करण जो वर्तमान के लिए महत्व रखता है, इसकी वैधता और स्थायित्व को सुनिश्चित करने के लिए, उसे विशेष महत्व दिया जाता है। 'इस प्रकार के विवरण का अंकन इस तरह का हो सकता है कि उसमें ऐतिहासिक चेतना अंतर्बद्ध स्वरूप की हो: जैसे मिथकों, महाकाव्यों और वंशावलियों में; या वैकल्पिक रूप से इसका संदर्भ अधिक मूर्त स्वरूपों से हो सकता है: परिवारों, संस्थानों और क्षेत्रों के इतिवृत्तात्मक लेखन या सत्ताधारी व्यक्तियों के जीवन-चरित्। किसी एक प्रकार के स्वरूप से दूसरे स्वरूप का कोई क्रमिक या निर्धारित विकास नहीं होता है और अंतर्बद्ध चेतना के कई पहलू दूसरे क़िस्म की ऐतिहासिक चेतना में भी देखे जा सकते हैं, चाहे उन्हें सायास समाहित किया गया हो या अवचेतनात्मक रूप से। जिस सीमा तक यह स्वरूप परिवर्तित या एक दूसरे में व्याप्त रहते हैं इसका प्रभाव प्रधान सामाजिक संरचनाओं पर पड़ता है' (थापर 2000: 124)। इस प्रकार कोई ऐतिहासिक आख्यान प्रचलित राजनीतिक, विचारधारात्मक और सामाजिक दुनिया के घटकों में होने वाले बदलावों के मिलन-बिंदु पर निर्भर रहता है।

इनमें से कुछ आख्यान लोकप्रिय स्मृति का हिस्सा बन जाते हैं, जहाँ उन्हें एक निश्चित प्रकार की विरासत को व्यक्त करने के लिए ढाला जाता है। चेतन सिंह के अनुसार, 'लोकप्रिय स्मृति में ऐतिहासिक चरित्रों को नया रूप प्रदान करने और घटनाओं को एक बिल्कुल अलग ही दृष्टिकोण में वर्णित करने की क्षमता होती है। भारतीय उपमहाद्वीप की पूर्व-औपनिवेशिक घटनाओं और राजनीतिक इकाइयों ने उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में क्षेत्रीय परंपराओं को आकार प्रदान किया है। उदाहरण के लिए, मुग़ल शासन का मेवाड़ द्वारा प्रतिरोध, 17वीं शताब्दी में सिखों और मराठाओं का लंबा संघर्ष और औरंगज़ेब की सेना के विरुद्ध **अहोमों** के युद्ध को भी ना भूलें, यह हिंदुस्तान के इन विभिन्न क्षेत्रों में लोकप्रिय ऐतिहासिक स्मृति का महत्वपूर्ण हिस्सा बना हुआ है। यह ऐसी स्मृति है, जिसे वे क्षेत्रीय नायक जीवंत बना देते हैं जिन्होंने सफलतापूर्वक साम्राज्य के उन अधिकारियों को चुनौती दी जो आततायी तथा शोषक थे। विजय तथा पराजय, दोनों, में मुग़ल सत्ता और उसकी साम्राज्यिक छवि की क्षेत्रीय ऐतिहासिक चेतना में गहरी उपस्थिति रही है' (सिंह 2018: 5-6)।

बुरँजी परम्परा को मध्यकालीन असम के अहोम शासन से घनिष्ठ रूप से जोड़ा जाता है, किंतु समय के साथ-साथ यह इस राज्य के इतिहास का भी प्रतिनिधित्व करने लगी है। इसका कारण असम में अहोमों के आगमन से पूर्व शासन करने वाले वंशों के बीच इतिहास लेखन की परंपराओं की अनुपस्थिति है। अहोम पहले से मौजूद कई नृजातीय और सांस्कृतिक समूहों के साथ अंतर-मिश्रित हुए और अपनी राजनीतिक आभा के विस्तार के साथ इन लघु इकाइयों को स्वयं में समाहित करने में समर्थ हुए, इस प्रक्रिया में उन्होंने विभिन्न गैर-अहोम सांस्कृतिक तत्वों को भी अपनाया।

अहोम शासन 1228 से 1826 तक 600 सालों तक कायम रहा और इस लंबे काल में वे कई नृजातीय रूप से भिन्न और शक्तिशाली समूहों को अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने में सफल हुए, जो असम के इस अहोम साम्राज्य का हिस्सा बन गए। इसे कई प्रकार की रणनीतियों और कूटनीतिक तरीकों से प्राप्त किया गया, जिनमें इस क्षेत्र के महत्वपूर्ण सत्ताधारी घरानों के साथ युद्ध, दमन और विवाह के माध्यम से स्थापित संबंध महत्वपूर्ण थे, जिसमें मणिपुर और कूच-राज्य भी शामिल हैं। इससे असम के समाज के वर्तमान सामाजिक-राजनीतिक परिवेश की व्याख्या भी होती है।

ऐतिहासिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में विस्तार रखने वाले *बखर* मराठों के अतीत का एक रचनात्मक और विचारोत्तेजक रूप प्रस्तुत करते हैं (देशपांडे 2007: 205)। हालांकि तथ्यों को आविष्कृत किया जा सकता है, तोड़ा-मरोड़ा जा सकता है या प्रश्नांकित किया जा सकता है, लेकिन प्रत्येक तथ्य के पीछे निहित विचारधारा और व्याख्या के आधार को समझना मुश्किल है। ऐतिहासिक चेतना का निर्माण एक सृजनात्मक कार्य है और साहित्यिक लेखकों को तथ्य के बजाय भ्रम पैदा करने के दोष से मुक्त किए जाने की आवश्यकता है। तथ्यात्मक सटीकता पर संदेह किया जा सकता है लेकिन लोकप्रिय स्मृति तथा क्षेत्रीय आख्यान में निहित विश्वासों की वैधता पर नहीं।

इसी प्रकार *बुरँजी* परम्परा भी ऐतिहासिक लेखन की एक विशेष शैली का प्रतिनिधित्व करती है जिसे असम के अतीत के पुनर्निर्माण हेतु विश्वसनीय स्रोत के रूप में स्वीकार किया गया है। एक संस्थागत ऐतिहासिक परम्परा के रूप में *बुरँजी* – सरकारी या निजी – स्वयं में सामाजिक और राजनीतिक प्राधिकार के रूप में कार्य करने की क्षमता रखती थी। आधुनिक काल में असम के बुद्धिजीवियों द्वारा

असमी पहचान के पुनर्निर्माण में इसके निर्वचन और उपयोग ने यह दर्शाया है कि किस प्रकार ऐतिहासिक परम्परा को लोकप्रिय बनाकर एक क्षेत्रीय राष्ट्रवादी भावना का विकास संभव है।

11.2 साहित्यिक आख्यानों के रूप में *बखर* और *बुरँजी*

आरम्भिक आधुनिक क्षेत्रीय राज्यों में राज्य के उत्तराधिकार की परम्परा ने साहित्य को राजनीतिक परिवर्तन की प्रक्रिया के साथ घनिष्ठ निकटता प्रदान की थी। स्टुअर्ट गॉर्डन के अनुसार यह उन राज्यों के बारे में विशेष रूप से सत्य था जहाँ ज्येष्ठाधिकार का सामान्य नियम लागू नहीं होता था। यहाँ शासक अपने उत्तराधिकार का औचित्य अपने को प्रजा के उदार और सुदृढ़ संरक्षक के रूप में स्थापित करके, जन्म व वंशावली, इत्यादि को समाहित करते हुए, अति विशिष्ट निजी गुणों का प्रदर्शन करके सिद्ध करते थे। यहाँ साहित्य तथा प्रतिरूपण की अन्य सौंदर्यात्मक रीतियाँ इन गुणों को अभिव्यक्त करने और शासक के उत्तराधिकार को वैधता प्रदान करने का प्रभावशाली माध्यम बन जाती थीं (गॉर्डन 1993: 368-369)। इसके अतिरिक्त सुमित गुहा इस तथ्य की भी पुष्टि करते हैं कि भूमि और सम्मान के दावों के लिए प्रासंगिक लोक-आख्यानों को नियंत्रण में रखना आवश्यक था जिसके द्वारा भारत के विभिन्न क्षेत्रों में ऐतिहासिक स्मृति को संरचनाबद्ध किया गया था (गुहा 2019: 7-8)।

मध्यकालीन महाराष्ट्र में कुछ चारण और कथा-वाचकों ने ऐतिहासिक विषय-वस्तुओं पर विचार किया था और वीरगाथा (*पोवाड़ा*), रूमानी काव्य (*लावणी*), इतिवृत्तांत/वंशावली (***शाकावली***), इतिवृत्त (*बखर*), पारिवारिक विवरण (*कैफ़ियत*) और संत-कवियों के जीवन चरित्र (*संत-चरित*) जैसे साहित्य का सृजन किया (दीक्षित, 2009: 11)। यह उनके द्वारा अपने तरीके से बखान किया गया 'इतिहास' था, इसमें सामान्यतः इसकी ऐतिहासिकता को सिद्ध करने के लिए आवश्यक सावधानी का अभाव था। बहरहाल, यह अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि इस साहित्य का गहरा ऐतिहासिक मूल्य है, इसकी तथ्यात्मक सटीकता के लिए नहीं बल्कि इस कारण से कि इसने एक ऐतिहासिक चेतना को संभव बनाया, अतीत के विषय में सोचने और लिखने के लिए (देशपांडे 2013: 10)।

सुदूर पूर्वोत्तर, जो मोटे तौर पर भारत की ऐतिहासिक परिकल्पना से बाहर ही रहा था, जब तक कि भारत का स्वतंत्रता आंदोलन इस क्षेत्र में फैल नहीं गया, में जीवंत ऐतिहासिक परम्पराएँ मौजूद रही थीं जिनमें राजवृत्तांतों जैसे *बुरँजी* (असम), *राजमाला* (त्रिपुरा) और *चेइथारों कुंपापा* (मणिपुर) शामिल हैं। जहाँ इन इतिवृत्तों को सत्ताधारी वंशों के दरबारी वृत्तांतों की श्रेणी में रखा जा सकता है, वहीं 13वीं शताब्दी से *बुरँजी* परम्परा असम के अहोम लोगों में विद्यमान मज़बूत ऐतिहासिक बोध की उपस्थिति का संकेत करती है। वंशात्मक विवरणों के अतिरिक्त असम में वंशावली ग्रंथों की उपस्थिति भी क्षेत्रीय संदर्भ में ऐतिहासिक चेतना की उपस्थिति का संकेत करती है। दूसरी ओर, इन ऐतिहासिक परंपराओं के माध्यम से इस क्षेत्र की व्यापक भारतीय परंपराओं के साथ हुई अंतर-क्रिया की प्रकृति को समझा जा सकता है, जिनमें संस्कृत और फ़ारसी का नज़र आने वाला प्रभाव शामिल है (चटर्जी 2008)।

11.3 *बखर*

मराठा राजव्यवस्था के निर्माण में *बखर* महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं क्योंकि वह कई महत्वपूर्ण घटनाओं को दर्ज करते हैं इनमें से कुछ मराठा-काल के प्रमुख राज्याधिकारियों की जीवनियाँ हैं। यद्यपि वे किसी निष्ठावान अधीनस्थ द्वारा अपने शासक के प्रति लिखी गई रचनाएँ प्रतीत होती हैं। इस प्रकार वंशात्मक पहचान ने क्षेत्रीय गौरव के साथ मिलकर और उस पर आधारित होकर एक सामूहिक गौरवपूर्ण अतीत का निर्माण किया (गुहा 2019: 106)।

11.3.1 भाषायी और सामाजिक उत्पत्ति

बखर **गद्यात्मक** ऐतिहासिक आख्यान हैं जिन्हें 16वीं शताब्दी में रचित किया गया था, लेकिन इनमें से अधिकांश की रचना 17वीं शताब्दी के आखिर से लेकर आरंभिक 19वीं शताब्दी तक हुई है (देशपांडे 2007: 20)। ये आख्यान, जिनकी संख्या लगभग 200 है, महान् शासकों की जीवनियों, प्रधान परिवारों की वंशालियों या प्रमुख युद्ध के विवरणों के रूप में लिखे गए हैं। *बखर* को मराठी की एक गद्य शैली के रूप में जाना जाता है, जिसमें वास्तविक ऐतिहासिक मूल्य से अधिक साहित्यिक गुण प्रबल हैं।

बखर शब्द की उत्पत्ति को लेकर कई दृष्टिकोण प्रचलित हैं। इनमें से कुछ का मानना है कि *बखर* अरबी शब्द *ख़बर* से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अभिप्राय सूचना या जानकारी से होता है और संभवतः इसका विकास *अख़बार* या 17वीं और 18वीं शताब्दियों में खुफ़िया सूचनाओं के लिए प्रयुक्त होने वाले फ़ारसी-अरबी शब्द से हुई है। एस. एन. जोशी इसका प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि *बखर* अक्सर अधिकांश ग्रंथों के अंत में आता है, संभव है कि इसकी उत्पत्ति फ़ारसी शब्द *ख़ैर* या *बाख़ैर* से हुई हो। यह अंतिम भाग में आए अभिवादन की अभिव्यक्ति है, जिसका तात्पर्य 'सब कुछ कुशल है' से है। इसके विपरीत विद्वानों का एक अन्य समूह यह सुझाव देता है कि *बखर* का अनुवाद ***आख्यायिका*** है जो *ख़बर* अर्थात *वार्ता* या समाचार से भिन्न है। इसकी व्युत्पत्ति पुरातन पौराणिक *आख्यायिका* से हुई है जिन्हें एक प्रकार का साहित्य, ऐतिहासिक घटना और चरित्रों पर आधारित रचनात्मक कहानियाँ माना जाता माना जाता था, यहाँ महत्वपूर्ण विचार यह है कि एक तरह का पाठ जो केवल साहित्यिक गुणों को धारण करने के बजाए ऐतिहासिक घटनाओं को भी साथ-साथ बखान कर सकता था (देशपांडे 2007: 21)।

भले ही इसका मूल कुछ भी रहा हो यह शब्द 1670 के दशक तक निश्चित रूप से आधिकारिक उपयोग में स्थापित हो चुका था, जब मराठा संप्रभु शासक शिवाजी ने विषय-आधारित संस्कृत शब्दकोश तैयार करने का आदेश दिया ताकि राज्य-कला (राज-काज) में '***यवनी***' (इस्लामी) शब्दों के अत्यधिक प्रयोग को कम किया जा सके (गुहा 2004)। दक्खन सल्तनतों के अधीन मराठा सरदारों ने अपनी सेवा में फ़ारसी लेखकों को नियुक्त किया था और अधिकारी-तंत्र में शामिल अधिकांश लोग फ़ारसी भाषा से परिचित थे जब तक कि खुले तौर पर वंशावलियों और परिवारों के इतिहास लेखन में मराठी के प्रयोग को प्रोत्साहित न किया जाने लगा (गुहा 2004[ख]: 23-31; देशपांडे 2007: 221)।

सुमित गुहा, जिन्होंने 17वीं शताब्दी से *बखरों* की सामाजिक उत्पत्ति का अन्वेषण किया है, यह सुझाव देते हैं कि स्थानीय घटनाओं और जानकारियों को दर्ज करने वाले तथ्यात्मक विवरणों का उदय अधिकारी-तंत्र की शक्ति के एक दोहरे संदर्भ में प्रयोग के माध्यम से हुआ था। प्रथमतः, मराठा शासन ने 1650 के दशक में सीमांत क्षेत्रों पर विजय पाने के बाद स्थानीय जानकारी जुटाना शुरू किया ताकि किसी क्षेत्र-विशेष की करों की दरों और प्रशासनिक व्यवस्था के विषय में सूचनाओं को एकत्रित किया जा सके। इसके परिणामस्वरूप विस्तृत ऐतिहासिक विवरण तथा स्मृति-लेख वंशानुगत अधिकारियों द्वारा सृजित हुए। द्वितीय, अतीत के यह विवरण मध्यकालीन महाराष्ट्र की क़ानूनी कचहरियों में पैतृक संपत्ति-संबंधी क़ानूनी विवादों को निपटाने के लिए महत्वपूर्ण थे (गुहा 2004: 1084-2004)। पुरातन होने के विचार ने विवादों के समाधान को रास्ता दिखाया क्योंकि वह राज्य के भीतर अधिकारों की उद्घोषणा करने में अनुल्लंघनीय बन गए थे। इनकी रचना परिवारों द्वारा भूमि के अनुदानों और पदों को सुरक्षित करने के लिए मराठा प्रशासन के साथ समझौता करने हेतु की गई थी। ये विवरण भूमि अनुदान या भूमि संबंधी लेन-देन का साक्ष्य देने के अलावा इन्हें महत्वपूर्ण घटनाओं के व्यापक संदर्भ में प्रस्तुत करते थे ताकि प्रतिपक्ष द्वारा किए जा रहे प्रतिकूल दावों का प्रतिवाद किया जा सके।

स्थानीय विवादों की सुनवाई, जैसा कि आंद्रे विंक ने संकेत किया है, अधिकांशतः सभाओं, *गोतसभा, मजलिस,* इत्यादि में होती थी (विंक 1986)। इन न्यायिक प्रक्रियाओं ने परिणामस्वरूप विरासत में मिलने वाली अधिकारिता के संदर्भ में एक विमर्श को जन्म दिया, और इस प्रकार *बखर* नृजातीय गौरव और स्थानीय भू-स्वामियों द्वारा किए गए क्षेत्रीय प्रभुता के दावों के अनुकूल बैठते थे (गुहा 2004 [ख]: 25)। इन विवरणों की सार्वजनिक सभाओं द्वारा पुष्टि की जाती थी, जिनमें विभिन्न धार्मिक और सामाजिक पृष्ठभूमि के लोग शामिल होते थे, जो स्थानीय ज्ञान पर चर्चा करने और उसे नया रूप प्रदान करने के लिए एकत्र हुआ करते थे (गुहा 2004 [क]: 1096)।

11.3.2 स्वरूप, विषयवस्तु तथा समयरेखा

स्वतंत्र मराठा राज्य की स्थापना 1650 के दशक में हुई थी और इसने व्यापक ऐतिहासिक आख्यानों के सृजन की परिस्थितियों को पैदा किया जो स्थानीय और व्यापक क्षेत्रीय घटनाओं को आपस में जोड़कर अतीत का उपयोग करते थे जिनमें से अधिकांश का सार्वजनिक सभाओं द्वारा प्रमाणीकरण किया जाता था (देशपांडे 2007: 22)। जब मराठा शक्ति का 1670 के दशक के बाद विस्तार हुआ, दैनिक और साप्ताहिक आधार पर ख़बरों का आदान-प्रदान दिन-प्रतिदिन के प्रशासन और नीति निर्माण

के लिए महत्वपूर्ण हो गया था। 18वीं शताब्दी तक मराठी-भाषी कुलीन तथा अधिकारी वर्ग का विस्तार उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में हो चुका था जिसने इस क्षेत्रीय राज्य के प्रामाणिक विवरणों को लिखे जाने की आवश्यकता को जन्म दिया।

बखर को अधिकांशतः गद्य रूप में लिखा गया है, इसकी प्रधान शैली किसी विशेष मामले के संबंध में एक कनिष्ठ अधिकारी द्वारा अपने वरिष्ठ को लिखे गए पत्र के रूप में थी। ये विवरण कई पृष्ठों तक फैले हुए होते हैं और इन्हें कई प्रकार के भाषायी प्रभाव में लिखा गया है। स्थानीय मराठी कहावतें, फ़ारसी प्रशासनिक शब्दावलियों और संस्कृत के मुहावरों के साथ-साथ घुली-मिली हुई है। इनमें से कई रोज़ाना के प्रशासनिक मामलों की जानकारियों से भरे हुए हैं। इनमें तथ्य और कथाएँ आपस में मिलकर अतिशयोक्ति-परक चित्रण पैदा करते हैं। पौराणिक दंत-कथाएँ, दैवीय हस्तक्षेप और शारीरिक शक्ति की नाटकीय कथाएँ प्रशासनिक तथा सैन्य प्रक्रियाओं के नियमित विवरण के साथ-साथ नज़र आती हैं (देशपांडे 2007: 20)। ऐतिहासिक तथ्यों के निरूपण और उनकी पुनर्रचना में साहित्यिक तथा रूपक-संबंधी अलंकरण अंतर्निहित था। एक प्रकार से, *बखर* ने एक विवरण प्रस्तुत करने के लिए *आख्यायिका* के वर्णनात्मक ढाँचे और *अख़बार* के रिपोर्ताज़ के स्वरूप को आपस में मिलाया (देशपांडे 2007: 28)।

समय रेखा

आरंभिक मराठी *बखर* सोलहवीं शताब्दी के हैं लेकिन उनमें से अधिकांश की रचना 17वीं शताब्दी के आख़िर से लेकर 19वीं शताब्दी तक की गई थी (देशपांडे 2007: 20)। यद्यपि कुछ विद्वान इनके मूल को और भी पहले के काल में स्थापित करते हैं। कमारकर का सुझाव यह है कि *महिकावातीची बखर* (पद्य तथा गद्य, दोनों, रूपों में उत्तरी कोंकण क्षेत्र की ऐतिहासिक घटनाओं को दर्ज करने वाला) 14-15वीं शताब्दी के मध्य कई लेखकों द्वारा लिखा गया था।

कुछ चुने हुए *बखरों* की सारणी

बखर का नाम/वर्ष	लेखक	शैली की विशेषता	अधिकर्ता
सभासद बखर (1694)	कृष्णाजी अनंत सभासद (जिंजी में मंत्री)	शिवाजी के प्रारम्भिक जीवनी-परक वृत्तांत	शिवाजी के द्वितीय पुत्र राजाराम द्वारा
चिटनिस बखर (1811)	मल्हार रामराव चिटनिस (साहू द्वितीय के सतारा दरबार के वरिष्ठ लेखक)	शिवाजी का जीवनी-परक विवरण, भोंसले वंश का वंशक्रम	शाहू
पेशव्यांची बखर (1818)	कृष्णाजी विनायक सोहोनी (पेशवा का अधिकारी)	पेशवाओं का इतिहास (18वीं शताब्दी) (वंशावलीय विवरण तथा मराठा शक्ति के विस्तार का विश्लेषण)	–
भाऊसाहेबांची बखर (18वीं शताब्दी के अंतिम हिस्से में)	–	पानीपत के युद्ध (1761) का विवरण	महादजी शिंदे
शेडगांवकर बखर (1924)	विनायक लक्ष्मण भावे	–	–
महिकावातीची बखर	केशवाचार्य और नायकराव	12वीं से 16वीं शताब्दी के बीच कोंकण क्षेत्र का इतिहास	–

स्रोतः प्राची देशपांडे, (2007) *क्रिएटिव पास्ट्स, हिस्टॉरिकल मेमरी एंड आइडेंटिटी इन वेस्टर्न इंडिया 1700-1960*, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली, पृ. 21.39; और अनिल नावरकर, 'सोर्सेज़ ऑफ़ मराठा हिस्ट्री,' *इंडियन सोर्सेज़*', *Academia.edu*, पृ. 1-10

यहाँ हम कुछ पृथक-पृथक *बखरों* में दी गई जानकारी पर नज़र डालेंगे।

सभासद बखर

राजाराम (शिवाजी के द्वितीय पुत्र) ने *सभासद* बखर के रूप में शिवाजी की जीवनी लिखने का आदेश दिया था जिसे कृष्णा जी अनंत सभासद द्वारा 1694 में रचा गया और इसे राजाराम को संबोधित पत्र

के रूप में लिखा गया (देशपांडे 2007: 25)। इसकी शुरुआत अहमदनगर निज़ाम के दरबार में मालोजी, शिवाजी के दादा, की सेवा और मराठा राज्य की स्थापना के वर्णन से होती है तथा शिवाजी की मृत्यु के साथ इसका समापन होता है। इसकी शुरुआत उस पृष्ठभूमि में होती है जिसने 1680 के दशक में संकट को जन्म दिया और जिसका परिणाम मराठा राज्य के उदय के रूप में निकला। एक प्रकार से यह *बखर* 'इसके प्रारंभ में चिह्नित इस केंद्रीय प्रश्न का व्यवस्था-पूर्ण चयन है'। यह उस ऐतिहासिक समस्या को समझने और विश्लेषण करने का प्रयास करता है जिसके लिए लेखक शिवाजी तथा औरंगज़ेब के बीच सत्ता के केंद्र में परिवर्तन की व्याख्या करते हुए एक योग्य समाधान प्रस्तुत करता है। यह विवरण मुग़ल साम्राज्य की भयोत्पादक शक्ति से युवा और उद्यमी शिवाजी द्वारा प्रतिरोध में प्रस्तुत चुनौती की ओर जाता है, जिसने चतुराई के साथ बादशाह द्वारा उसे सीमित करने और बंदी बनाए जाने के समस्त प्रयासों को व्यर्थ बना दिया था (देशपांडे 2007: 26)।

चिटनिस बखर

मल्हार रामराव शिव चिटनिस द्वारा शिवाजी की यह जीवनी लगभग एक शताब्दी बाद लिखी गई, जो इस शासक के उदय में दैवीय हस्तक्षेप के दावे को स्थापित करने का प्रयास करती है। इसमें यह संकेत मिलता है कि कई वर्षों तक विदेशियों के शासन के बाद श्री शिवाजी छत्रपति ने अपने कृत्यों और असाधारण अभियानों के माध्यम से राज्य की पुनर्स्थापना की। शिवाजी के पूर्वजों की वंशावली के पौराणिक मूल को चिह्नित करने की कोशिश की गई है। यद्यपि यहाँ पौराणिक आचारशास्त्रीय साँचे के अनुरूप एक आदर्श चरित्र और नैतिक आचरण को ग्रहण करने का प्रयास दिखाई देता है, तब भी इसमें किए गए तर्क तथा विश्लेषण उस संसार-विशेष में 'स्वीकृत सत्ता के ढाँचों में स्थित थे' जिनमें प्रसारित किए जाने के लिए इन ग्रंथों को रचा जा रहा था (देशपांडे 2007: 30)। कालानुक्रमिक विवरण पेश करने के बजाए इसमें विषयवस्तु के आधार पर सात भाग हैं जो दक्खन की राजनीति में मराठा राज्य की स्थापना को एक काल-विभाजक बिंदु के रूप में प्रस्तुत करते हैं। एक प्रकार से मराठा राज्य की शक्ति के विस्तार, प्रशासनिक जानकारियों, दक्षिणी अभियानों और शिवाजी के राजतिलक के वर्णनात्मक विश्लेषण में सत्य का कुछ निचोड़ हो सकता है (देशपांडे 2007: 27)।

बखरों में भविष्यवाणी और भविष्य-कथन देखने को मिलते हैं और महत्वपूर्ण घटनाओं, जैसे मराठा राज्य की स्थापना या पतन, को दैवीय इच्छा के परिणामस्वरुप घटित होना दर्शाया जाता है। शिवाजी के जीवनीकार उन्हें एक साक्षात् अवतार या एक दैवीय पुरुष के रूप में दिखाते हैं, और भवानी मराठों की संरक्षित देवी के रूप में वर्णित हैं, जो प्रतिष्ठित व्यक्ति के रूप में शिवाजी के कृत्यों को वैधता प्रदान करने में सहायक होता है। यह एक सुज्ञात तथ्य था कि अज्ञात मूल के राजवंश को दैवीय हस्तक्षेप के माध्यम से वैधता पाने की आवश्यकता थी। अगर कोई जीवनी किसी शासक के शासनकाल या उसके आस-पास लिखी गई होती थी तो राजवंश का एक संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करना और उसके संरक्षक के जीवन में घटित होने वाली प्रमुख घटनाओं का वर्णन करना एक सामान्य परम्परा थी। यह विशेष रूप से सत्य था, जहाँ उत्तराधिकार विवादास्पद था, और इस प्रकार की जीवनियाँ संरक्षणदाताओं के शासन के राज्याधिकार का औचित्य साबित करती थीं (थापर 2003: 167)।

आरंभिक 19वीं शताब्दी में लिखा गया *चिटनिस बखर* शिवाजी द्वारा सूचना विभाग के तंत्र को स्थापित करने के लिए लागू की गई नीतियों की चर्चा करता है। सूचना उपलब्ध कराने के कार्य के लिए *हलकारों* की नियुक्ति की गई थी। राज्य के अंदर और बाहर की सूचनाओं को *अख़बारों* (समाचारों के प्रतिवेदन), *लखोतेपत्र* (बंद पत्र) और *ज़बानी* (मौखिक साक्ष्य) के माध्यम से मुंशियों, सैन्य अधिकारियों, मुखियाओं द्वारा इकट्ठा किया जाता था। इन सूचनाओं को व्यवस्थित रूप से संकलित किया जाता था और *चिटनिस* को सौंपा जाता था तथा जिसे महाराज को दैनिक आधार पर सूचित करने के लिए इन्हें संक्षिप्त बनाकर *यादी* (सूचियों) के रूप में तैयार किया जाता था (देशपांडे 2007: 23)।

भाऊसाहेबांची बखर

भाऊसाहेबांची बखर को पानीपत के युद्ध के कई दशकों बाद लिखा गया था। यह अहमद शाह अब्दाली की अफ़ग़ान फ़ौजों के समक्ष मराठों की पराजय का विश्लेषण करती है। यह पराजय के कारणों की पहचान 1750 से 1761 के बीच राजनीतिक गठबंधनों में होने वाले परिवर्तनों में करती है, जिसमें मध्य भारत में शिंदे और होल्करों के बीच प्रतिस्पर्धी महत्वाकांक्षा और मुग़ल दरबारियों,

अवध के नवाब, रोहिल्ला, राजपूतों और जाटों के साथ राजनीतिक संबंधों के तंत्र में बदलती स्थितियाँ भी शामिल हैं। पेशवा और उसके भाई भाऊ साहब, जो मराठा सैन्य बलों के सेनानायक थे, व्यक्तिगत क्लेशों, कूटनीतिक ग़लतियों तथा सैन्य रणनीतियों, जो असफल सिद्ध हुईं तथा जिन्होंने मराठा शक्ति को कमज़ोर कर दिया था, से हतप्रभ रह गए थे (देशपांडे 2007: 28)।

जिन घटनाओं का वर्णन किया गया है वे इस विवरण के रैखिक स्वरूप को बाधित नहीं करती हैं बल्कि 'असाधारण कृत्यों और घटनाओं को रेखांकित करने में सहायता करती हैं और ये उस नैतिक दुनिया का हिस्सा होते हैं जिसके अंतर्गत *बखर* लेखक अपने विवरण के मुख्य पात्र के कृत्यों और उनके परिणामों का आकलन करता है' (देशपांडे 2007: 29)। पानीपत में मराठा पराजय को विभिन्न मराठा सरदारों के नैतिक रूप से भ्रष्ट आचरण का परिणाम भी बताया गया है जिन्होंने पवित्र तीर्थों को दूषित किया या ब्राह्मणों को सताया था।

यह *भाऊ बखर* उस परिवेश से संबंध रखता है जिसे 18वीं शताब्दी की मराठा शक्ति (1730-1800) की सामाजिक परियोजना ने सृजित किया था, और इसे उत्तर भारतीय परिस्थितियों से परिचित किसी व्यक्ति द्वारा उत्तर भारत में लिखा गया था, संभवतः 1761 के बाद। इसके विपरीत *पानीपतची बखर* को महाराष्ट्र में लिखा गया था और इसमें ब्राह्मणीय अंतःतत्व की अधिकता है। 18वीं शताब्दी के मध्य तक मराठा अपनी सैन्य शक्ति और राजनीतिक शासन को उत्तर भारत यानी 'हिंदुस्तान'[1] में प्रक्षेपित कर रहे थे (देशपांडे 2013: 6)।

महिकावातीची बखर

इस *बखर* का सूक्ष्म अध्ययन सुमित गुहा के मराठा काल से भी पहले *बखरों* की सामाजिक उत्पत्ति के तर्क को मज़बूत करता है। इस *बखर* की रचना का उद्देश्य केशवाचार्य द्वारा विस्तार से बताया गया है। नायक राव देसल, मलाड के एक स्थानीय वंशानुगत अधिकारी, को 'श्री देवी आद्यशक्ति जगदंबिका महाराष्ट-धर्म-रक्षिका' का स्वप्न आया, जिन्होंने उत्तरी कोंकण क्षेत्र के सभी स्थानीय अधिकारियों और ब्राह्मणों की गोष्ठी बुलाने और उन्हें 'महाराष्ट्र धर्म' के विषय में जागरूक करने का आदेश दिया। इस गोष्ठी का आयोजन इस क्षेत्र में 'म्लेच्छ' शासन की शुरुआत से ठीक पहले हुआ था और इसका इरादा 'स्वधर्म' तथा 'महाराष्ट्र धर्म' की रक्षा का आह्वान करना था।

यह ध्यान में रखना दिलचस्प है कि प्रत्येक *बखर* की रचना के पीछे एक विशेष प्रेरक तत्व था। उदाहरण के लिए, बदलते राजनीतिक हालात, *देसलों* के बीच बारंबार होते झगड़े और नए शासकों से वैधता प्राप्त करने और उसे बनाए रखने की आवश्यकता *महिकावातीची बखर* की रचना के पीछे मुख्य उत्प्रेरक कारक थे। इसमें विभिन्न *देसलों*, अर्थात वंशानुगत अधिकारियों, की वंशावलियाँ या उनके क्षेत्राधिकार में आने वाले गाँवों की *जमा* (अनुमानित राजस्व) में उनके हिस्से की जानकारियाँ शामिल हैं।

बखर की शैली इस आधार पर भी भिन्नता रखती थी कि उसमें किस बात पर बल दिया गया है, जैसे *पेशव्यांची बखर* में प्रारंभिक 18वीं शताब्दी से पेशवाई इतिहास को संकलित किया गया है और इसमें नाना साहेब पेशवा के ईमानदार और समृद्ध शासन को अनैतिक बाजीराव द्वितीय के अधीन पतन के विपरीत दर्शाया गया है (देशपांडे 2007: 30)। कुछ मामलों में यह शैली प्रशंसात्मक थी तथा अक्सर घटनाओं की तिथियों और स्थानों को लेकर भ्रमपूर्ण स्थिति थी। *सभासद बखर* और *कलमी बखर* अपने तथ्यों तथा उन वीरतापरक तथा त्रासदीपूर्ण घटनाओं, दोनों, के लिए महत्व रखती हैं जिन्होंने महाराष्ट्र में लोकप्रिय इतिहास का आधार तैयार किया है (गॉर्डन 1993: 1)।

अगला भाग हमें इन *बखरों* के लिखे जाने के पीछे की प्रेरणा को समझने में सहायता करेगा। लेखक की भूमिका और उसके इरादे, इन ग्रंथों की सत्यता को कैसे स्थापित किया जाए और इसके राजनीतिक तथा लोकप्रिय उपयोगों की पहचान करने में सहायता करेगा।

11.3.3 संरक्षण, लेखकत्व तथा प्रामाणिकता

बखर विवरण उस क़ानूनी और अधिकारी-तंत्र की दुनिया में उदित हुए जो दक्खन में समय के साथ-साथ विकसित हुआ था। *बखर* इतिहास लेखन की 'एक केंद्रीय विशेषता सत्ता के वर्णन,

[1] *बखरों* में आमतौर पर उत्तर भारत को लक्षित करने के लिए 'हिन्दुस्तान' शब्द का प्रयोग किया गया है।

जो मराठा राजनीतिक परिवेश में विभिन्न अभिकर्ताओं की वैधता के दावों को सामने रखते थे, तथा उस निर्लिप्त आलोचनात्मक स्वर जिसने नैतिक दुनिया के भीतर से इन ऐतिहासिक चरित्रों, घटनाओं और परिणामों पर टिप्पणी की है, के बीच तनावों की उपस्थिति थी' (देशपांडे 2007: 39)।

ये विवरण उन लिपिकों और पढ़े-लिखे अधिकारियों की सामाजिक दुनिया को सामने लाते हैं जिन्होंने इनकी रचना की थी। *बखर* हमारे सम्मुख अधिकारी-तंत्रीय मराठा राज्य के विशिष्ट लेखन कौशल का एक दृश्य प्रस्तुत करते हैं जहाँ लिखित शब्द फलता-फूलता बौद्धिक उद्यम बन गया था। कागज़ पर लिखी गई सभी प्रकार की सूचनाओं के लिए उनको बोलकर लिखाने वाले और इन पत्रों को लिखने तथा पहुँचाने वालों की भी आवश्यकता थी। *चिटनिस*, जो लिपिकों के परिवार से आते थे, और जिन्हें शाही पत्र लिखने का कार्य सौंपा गया था, जिनमें वे पत्र भी शामिल हैं जिनका संबंध राजनीतिक समझौतों से होता था। वे शिवाजी को पत्रों को तिथिबद्ध किए जाने, संबोधन के व्यवहार, उनके दस्तावेज़ रखे जाने, सूचना एकत्र करने, लेखांकन, इत्यादि के व्यवहार को शुरू करने का श्रेय देते हैं (देशपांडे 2007: 37)।

लिपिक की भूमिका राजनीतिक और रचनात्मक, दोनों, थी, जिसमें कल्पना और बुद्धि दोनों की आवश्यकता होती है जहाँ एक ओर उसे राजा के मन को पढ़ना होता था और उसके इरादों का पता लगाना होता था, वहीं दूसरी ओर वह राजा के रणनीतिकार तथा प्रतिनिधि के रूप में भूमिका भी निभाता था, शासक को उसके सहयोगियों तथा शत्रुओं के साथ समझौते करने में सहायता हेतु (देशपांडे 2007: 37-38)। मराठी साक्षर समाज को कई विभिन्न नामों, जैसे *चिटनवीस, वाकानवीस* या *वकील* के नाम से जाना जाता था। विभिन्न ब्राह्मणों और कायस्थों के वर्गों से आने वाला यह पढ़ा-लिखा अधिकारी-वर्ग 18वीं शताब्दी में गतिशील और बहुभाषी कार्य-समूह का प्रतिनिधित्व करता था (देशपांडे 2007: 38)।

मराठा अधिकारी-तंत्र के हिस्से के रूप में कई *बखर* लेखकों की पहुँच *शाकावली* (शब्दशः. वर्षों का क्रम) या परिवारों और वंशानुगत अधिकारियों द्वारा तैयार किए गए इतिवृत्तों तक होती थी, जिनमें जन्म, मृत्यु, राजतिलक, राज्यारोहण और विवाह के संबंध में सूचनाएँ दर्ज होती थीं (देशपांडे 2007: 29)। और अधिकतर ये विवरण राज्य के भीतर उपयुक्त स्रोतों तथा अन्य बुद्धिमान व्यक्तियों से मशविरा करने की घोषणा के साथ शुरू या समाप्त होते हैं। जहाँ *भाऊसाहेबांची बखर* ने अपने लेखन में प्रत्यक्ष अनुभव की भूमिका पर बल दिया है, वहीं ऐसा माना जाता है कि कृष्णा जी विनायक सोहोनी ने *पेशव्यांची बखर* का वाचन अपनी स्मृति के आधार पर किया था। यद्यपि इसमें दी गई विस्तृत जानकारी से यह संकेत मिलता है कि उन्होंने अवश्य ही पुराने दस्तावेज़ों को देखा होगा। *चिटनिस* उन स्रोतों का विशेष रूप से उल्लेख करता हैं जिनकी उसने सहायता ली थी, जिसमें *विष्णु पुराण* जैसे शास्त्रों तथा राज्य के दस्तावेज़ों, रोज़नामचा, इत्यादि जैसे लेखन भी शामिल हैं। जहाँ ये विवरण यह स्वीकारते हैं कि उन्होंने इन विश्वसनीय स्रोतों का प्रयोग किया है, यह स्वयं इन विवरणों के हिस्सों के रूप में नज़र नहीं आते हैं (देशपांडे 2007: 31)।

प्रतिलिपि तैयार करने वालों द्वारा इन विवरणों के हस्तांतरण का परिणाम अक्सर उनके शब्द-विधान, मुहावरों और व्याख्या में बदलाव में निकलता था। उदाहरण के लिए, *भाऊसाहेबांची बखर* को उत्तर भारत में किसी मराठी-भाषी द्वारा लिखा गया था, अत्यधिक फ़ारसी-कृत मराठी में। वहीं दक्षिण के कई शहरों, जैसे सांगली व सतारा, में मिलने वाली इसकी प्रतिलिपियों में उर्दू और फ़ारसी के शब्दों और पदबंधों (phrases) का मुक्त रूप से मराठी में अनुवाद किया गया है (देशपांडे 2007: 32)।

मराठा इतिहासलेखन में 18वीं-19वीं शताब्दी का युग शिवाजी के स्वराज्य के उस समय से काफ़ी भिन्न था, जिसका तात्पर्य मराठा राज्य के उदय से था और जो 17वीं शताब्दी में नर्मदा नदी से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक विस्तृत था। मराठी-भाषी देश और एक सुगठित मराठा पहचान का निर्माण शिवाजी के अधीन और उनके मराठा उत्तराधिकारियों के अधीन 17वीं शताब्दी की उस पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं जिसके आलोक में पानीपत पर लिखे गए ग्रंथ आधारित थे। मुग़ल काल में मराठी भाषी लोग नियमित रूप से तीर्थ यात्रा और व्यापार-संबंधी कारणों से बड़ी संख्या में उत्तर भारत आते रहते थे; और 'हिंदुस्तान' का मराठी ऐतिहासिक चेतना में पहले से ही एक सुस्थापित स्थान था जो पानीपत की लड़ाई से पहले ही विकसित हो चुका था। तथापि, 18वीं शताब्दी में 'हिंदुस्तान' में मराठों के तीव्र आगमन ने मराठा इतिहास में 'हिंदुस्तान' के महत्व को और इसके लेखन को अभूतपूर्व तरीकों से नया रूप प्रदान किया (देशपांडे 2013: 6)।

पूर्व-औपनिवेशिक काल में *बखर* की रचना एक नई राजनीतिक पहचान को स्थापित करने की आवश्यकता से जुड़ी थी लेकिन साम्राज्यवादी शासन के अधीन इन प्राथमिकताओं में बदलाव आया। औपनिवेशिक काल में यद्यपि *बखरों* को छपाई या शिक्षा की परियोजनाओं के उद्देश्य से नहीं लिखा गया था, तब भी उन्हें राज्य के निर्देश पर लिखा जाना जारी रहा। परस्पर व्याप्त उन्मुक्तियों तथा भूमि के अधिकारों से संबंधित विवादों में नए प्रशासन द्वारा *बखरों* की प्रामाणिकता को स्वीकारा गया था। इस दौरान लिखे गए अधिकांश ग्रंथ वंशावलीय विवरण हैं जो पेशवा, भोंसले, होल्कर, इत्यादि के कौटुम्बिक भाग्य को दर्ज करते हैं। इन मौजूदा शासकों द्वारा अपने अधिकारों तथा प्राप्त उन्मुक्तियों को सुरक्षित करने का प्रयास किया गया था और कईयों ने अपने अतीत के सैन्य अभियानों का उल्लेख किया था ताकि ब्रिटिश प्रशासन के समक्ष अपनी पेंशनों की मांगों को जोरदार तरीके से रखा जा सके (देशपांडे 2007: 89-90)।

बाद में, औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था में पूर्व-औपनिवेशिक मराठी गद्य साहित्य तथा इसकी वर्णनात्मक संरचना को साहित्यिक शैली की स्नातक स्तरीय परीक्षाओं में जगह मिली। यह ध्यान में रखना बड़ा दिलचस्प होगा कि 1870 के दशक में जब ग्रैंट डफ़ की पुस्तक *हिस्ट्री ऑफ़ द मरहट्टास* को अतीत के प्रमाणिक वृत्तांत के रूप में स्वीकारा गया। इसमें *बखरों,* को मराठी साहित्य से संबंधित बताया गया था। इसने ब्रिटिश सत्ता के लिए, *बखर* इतिहासलेखन में प्रस्तुत शुरुआती निरुपणों और इस क्षेत्र की राजनीतिक-अर्थव्यवस्था में उनके द्वारा लाए गए परिवर्तनों दोनों से ही स्वयं को दूर दिखाना आसान बना दिया था (देशपांडे 2007: 92-93)।

19वीं शताब्दी में जब उपनिवेश-विरोधी भावनाएँ गति पकड़ रही थीं, ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध एक राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया सूत्रबद्ध हो रही थी जिसमें राजवाडे और चिपलुंकर जैसे विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के दस्तावेज़ों, जैसे चिट्ठियों, प्रबंध-ग्रंथों, *बखरों,* को मराठी लेखकों के लिए एक संग्रहालय का निर्माण करने हेतु संकलित किया। जस्टिस रानाडे, जो 1870 के दशक में बम्बई में सामाजिक सुधारों के प्रवक्ता थे, और साथ ही सावरकर ने *बखर* में अंतर्निहित देशज ऐतिहासिक लेखन की परम्परा को पहचाना और उसे प्रोत्साहित किया। शिवाजी के वंश की विरासत को क्षेत्रीय देशभक्ति और हिंदू राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने के लिए अपनाया गया। जहाँ *बखर* किसी भी प्रकार के सांप्रदायिक आख्यान को गढ़ने के लिए अस्पष्ट स्वरूप के थे, 'सावरकर ने *बखरों* के जीवंत कथा-वाचन, वीरतापूर्ण इतिहास निर्माण तथा अतीत के प्रतिरूपण के मिश्रण को वि-राजनीतिक औपनिवेशिक इतिहास के लिए प्रति-आख्यान के रूप में प्रयोग किया' (विसना 2020: 8-9)। इसी प्रकार बाल गंगाधर तिलक ने मराठों की बढ़ती हुई लोकप्रियता तथा विकसित होती ऐतिहासिक स्मृति का उपयोग मध्यम वर्ग के बीच उपनिवेश-विरोधी आंदोलन के हिस्से के रूप में गणपति (1893) और शिवाजी (1897) उत्सव की शुरुआत करने में किया (देशपांडे 2007: 126.138)।

11.3.4 आलोचना और महत्व

दो सौ से कुछ अधिक *बखर* समय की प्रतिकूल मार से बचे रह गए हैं और उनमें से अधिकांश का मराठा इतिहास के आधुनिक विद्वानों द्वारा 19वीं शताब्दी में संपादन और मुद्रण किया गया। '19वीं और 20वीं शताब्दियों में *बखरों* का यह प्रस्तुतीकरण और पुनःप्रस्तुतीकरण इनके आधुनिक संपादकों की विचारधारा के झुकाव से कभी भी मुक्त नहीं था'। इस प्रकार *बखरों* का कोई भी पाठ उनके आधुनिक संपादकों तथा मूलभूत संकलन-कर्ताओं के अध्ययन को आवश्यक बनाता है ताकि उनकी ऐतिहासिक पुनर्निर्माण की संभावनाओं की ओर ध्यान दिया जा सके (देशपांडे 2013: 5)।

प्रख्यात इतिहासकार वी. के. राजवाडे ने *बखरों* के विवरण की उनकी 'अतिशयोक्तियों, अनैतिहासिकता, कालक्रम के भ्रम और कल्पनापूर्ण कथाओं के प्रति प्रेम के कारण आलोचना की है' (गुहा 2004[क]: 1102)। अधिकांश *बखर* विशेष शासकों और स्वायत्त सरदारों के प्रति निष्ठापूर्ण जुड़ाव का प्रदर्शन करते हैं। औपनिवेशिक काल में इतिहासकारों ने *बखरों* के पक्षपातपूर्ण झुकाव को एक कमी के रूप में देखा, जिन वृत्तांतों में तारीख़ों और कालक्रम के प्रति उपेक्षा भी थी (देशपांडे 2007: 20)। *सभासद बखर* मराठा राज्य की स्थापना के संबंध में उपलब्ध सबसे पुराना विवरण है, यह इसकी शक्ति को एक 'नवीन, श्रद्धा और प्रशंसा के योग्य' के रूप में प्रस्तुत करता है। इसका बल शिवाजी के नेतृत्व में शुरू हुई केंद्रीकरण की प्रवृत्ति की वैधता पर है, राजत्व के प्रतिस्पर्धी दावों का प्रतिवाद

करने के लिए। *पेशव्यांची बखर* में, पुणे में विराजमान पेशवा के 'ब्राह्मण राज' के वर्णन के माध्यम से सद्-आचरण और धर्म के प्रति लगाव की प्रशंसा की गई है (देशपांडे 2007: 41-43)।

लिंगबोध, वर्ग और जाति के प्रश्न भी *बखरों* की संरचना में उजागर नहीं होते हैं, क्योंकि उनका मुख्य ध्यान उस क्षेत्र की राजव्यवस्था पर ही था। यद्यपि इन विवरणों में वस्तुनिष्ठता को ख़ोज पाना मुश्किल है तथापि वे दिन-प्रतिदिन के जीवन की झलक प्रस्तुत करते हैं। ऐतिहासिक स्मृति का यह नवीनीकरण विवादों और नीतियों का समाधान करते हुए एक सार्वजनिक गतिविधि के रूप में घटित हुआ था। इन सार्वजनिक स्थानों में से एक थी क़ानूनी कचहरियाँ, एक प्रकार का मंच जहाँ बहुत पहले से ही लोगों को विवाद-ग्रस्त अतीत के विश्वसनीय विवरण प्रस्तुत करने का लाभ प्राप्त था। 1610 के समय का एक प्रकरण यह संकेत करता है कि *बखर* शब्द का प्रयोग विभिन्न कार्यवाहियों में साधारण रूप से तथ्यात्मक अभिकथन के लिए प्रयुक्त हुआ है (इस प्रकरण में सीमा निर्धारण के लिए) (गुहा 2019: 84)। यह स्थानीय सभा, जो पुणे जिले के दो गाँवों के बीच सीमा-संबंधी विवाद को लेकर 1610 में एकत्र हुई थी, इस तरह का उदाहरण है। इस्लामी विद्वान और अधिकारी, ब्राह्मण नौकरशाह, व्यापारी, विभिन्न धर्मों से संबंध रखने वाले स्थानीय भद्र-जन तथा संभ्रांत किसान, सभी, इस मुद्दे को सुलझाने के लिए उपस्थित थे। इसमें से अधिकांश कार्यवाही खुले सार्वजनिक स्थानों पर होती थी। विभिन्न वर्गों के लोग इस प्रकार समय-समय पर सुनवाई करने, चर्चा करने और स्थानीय ज्ञान और सहज बुद्धि को नया रूप प्रदान करने एकत्र होते थे। इनमें से कुछ गवाहों, वादियों या प्रतिवादियों के रूप शामिल हुए। मोटे तौर पर एक अशिक्षित समाज में इस तरह की गोष्ठियाँ/सभाएँ क्षेत्रीय और स्थानीय इतिहास को आकार देने तथा उनको हस्तांतरित करने में महत्वपूर्ण थीं।

बखर लेखन की यह ऐतिहासिक-लेखन परम्परा विभिन्न प्रकार के ग्रंथों/दस्तावेज़ों पर आधारित थी, जैसे पुराने *बखर*, प्रशासनिक दस्तावेज़, सार्वजनिक साक्ष्य, पौराणिक ज्ञान, *पोवाड़ा* की लोकप्रिय स्मारक संबंधी परम्पराएँ, जिससे पता चलता है कि इस रीति से अंतर-पाठात्मकता का सृजन हुआ था (देशपांडे 2007: 66)। *बखर* अतीत के संबंध में बहुत से दृष्टिकोणें के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, भले ही इनमें से कुछ विवरण केंद्रीयकृत तथा आदर्श राजनीतिक सत्ता के विचार पर टिके हुए थे, इनको सत्ता के विभिन्न केंद्रों पर व्यवस्थित रूप दिया गया था। इसके विपरीत औपनिवेशिक काल में मराठा इतिहास की व्याख्या का उद्देश्य अतीत का एक सत्य से पूर्ण और एकात्मक आख्यान प्रस्तुत करना था और चूँकि साहित्य को इतिहास से एक भिन्न विषय के तौर पर देखा गया था, ऐतिहासिक और कल्पनात्मक आख्यानों के बीच सीमाएँ धुंधली बनी रहीं (देशपांडे 2007: 204-6)।

कई *बखर* स्वयं को अपने से वरिष्ठ प्राधिकार रखने वाले को अन्य बुद्धिमान कनिष्ठ द्वारा दिए गए उत्तर के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह भाषागत शैली लेखन की इस संकर (hybrid) विधा की उत्पत्ति का एक अन्य साक्ष्य प्रस्तुत करता है: ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी उत्पत्ति एक उत्तरोत्तर अधिकारी-तंत्र में बदलते शासन से हुई थी, बाद के शासकों को अपने क्षेत्र को जानने की आवश्यकता थी और उन्होंने स्थानीय अधिकारियों से इस संबंध में साक्ष्य जुटाये। इस प्रकार की जिज्ञासा वहाँ सामान्यतः पाई जाती होगी जहाँ राजसत्ता ने शक्तिशाली मध्यस्थ सामंतों को कमज़ोर बना दिया था और वह स्थानीय क्षेत्र तक प्रवेश कर गई थी।

बोध प्रश्न-1

1) *बखर* की सामाजिक तथा भाषायी उत्पत्ति के बीच अंतर कीजिए।

.....

.....

.....

2) *बखर* किस प्रकार अतीत को समझने में सहायक होते हैं? उदाहरणों के साथ व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

3) जिन्होंने *बखर* को लिखवाया तथा जिन्होंने इनकी रचनाएँ कीं, उनके लिए क्या तत्व प्रेरक रहे थे?

.....

.....

.....

11.4 *बुरँजी* क्या है?

भारत में कालानुक्रमिक रूप से अतीत की घटनाओं का विवरण रखने की परंपरा दो प्रांतों – कश्मीर और असम – में पाई जाती है। जहाँ 12वीं शताब्दी में कल्हण द्वारा संस्कृत में रचित *राजतरंगिणी* प्राचीनतम समय से कश्मीर की ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन करती है, वहीं *बुरँजियाँ* असम के ऐतिहासिक अतीत के निर्माण हेतु प्रयुक्त हुई हैं (डेका 2016)। *बुरँजियाँ* 1228 से 1826 तक असम में शासन करने वाले अहोम राजवंश के ऐतिहासिक इतिवृत्तों की एक शैली है और असम के पूर्व-औपनिवेशिक इतिहास की समझ मुख्यतः इन *बुरँजियों* पर ही आधारित है, जिन्हें शुरुआती रूप से ताइ-अहोम भाषा में लिखा गया था लेकिन बाद में इनमें से अधिकांश की रचना असमी भाषा में हुई है, अनुमानतः अहोमों के हिंदू धर्म में धर्मांतरण के बाद। *बुरँजी* शब्द, जिसे आज इतिहास का पर्यायवाची माना जाता है, असमी भाषा में 'इतिहास' शब्द का प्रयोग 'प्राचीन' के लिए थाई शब्द *बोरान* से आया है (हार्टमन 1997)। इसकी एक अन्य अर्थ में व्याख्या की गई है – '(ज्ञान का) ऐसा भंडार जो अज्ञानी को सिखाता है', अर्थात *बु* (अज्ञानी व्यक्ति), *रँ* (सिखाना), *जी* (अन्नागार या भंडार) (गैट 1905)। *बुरँजियों* की प्रकृति का अन्य दिलचस्प वर्णन जॉन पीटर वेड (1800) द्वारा असम के इतिहास के संकलन में मिलता है जो एक राजकीय आदेश का संदर्भ देता है कि 'राजा के पूर्वजों के इतिहास को लिखा जाना चाहिए, अहोम राजाओं के उत्तराधिकारियों के क्रम को विस्तार से दर्ज किया जाना चाहिए और इस दस्तावेज़ को *रूपूट* कहा जाना चाहिए; यह कि इतिहास में केवल ***स्वर्गदेवों*** अथवा अहोम राजाओं के नामों और कृत्यों का उल्लेख होना चाहिए' (पुरकायस्थ 2008)।

सत्ताधारी राजाओं और राज्य के उच्चाधिकारियों के राजकीय आदेशों पर लिखे तथा संकलित किए गए इन इतिवृत्तों की शैली न केवल हमें अहोमों के वंशानुगत इतिहास की जानकारी देती है बल्कि हमें असम में इतिहास लेखन की एक विशिष्ट शैली के विषय में भी बताती है जो पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया की ऐतिहासिक परंपराओं के समरूप हैं। इस प्रकार *बुरँजी* की विशिष्ट विशेषता अहोमों के राजदरबार के भीतर और बाहर घटित महत्वपूर्ण घटनाओं के विवरण को दर्ज करना है, यही कारण है कि *बुरँजी* इतिहास के बजाय राजाओं का इतिवृत्त अधिक नज़र आती है।

11.5 *बुरँजियों* का चयन, संग्रह और प्रस्तुति

बुरँजी केवल एक ही नहीं है बल्कि विभिन्न शासन करने वाले अहोम राजाओं के समय में कई *बुरँजियों* को लिखा गया और इनमें से कुछ सरकारी तथा कुछ निजी हैं। इनके लेखन की शैली विशिष्ट थी और इनमें से कुछ विशेष सांस्कृतिक बारीकियों को धारण करती हैं जिससे अहोम लोगों के विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के साथ हुए ऐतिहासिक आदान-प्रदान का पता चलता है। पुरानी *बुरँजियों* में पुरानी ताइ-अहोम भाषा का उपयोग किया गया है जो प्रारंभिक 19वीं शताब्दी तक लगभग मृतप्रायः हो गई थी और असमी भाषा ने इसका स्थान ले लिया और उसका उपयोग केवल कुछ बुजुर्ग देउ (पुरोहितों) द्वारा समारोह और अनुष्ठानों के उद्देश्यों के लिए किया जाता था। यह कुछ बुजुर्ग देउ ही थे जिनसे कुछ प्रमुख सामाजिक रूप से प्रभावशाली व्यक्तियों, जैसे बहर गोलप चंद्र बरुआ, ने ताइ-अहोम भाषा की शिक्षा पाई थी, जिन्हें ब्रिटिश सरकार ने *बुरँजियों* को चयनित, व्यवस्थित और प्रस्तुत करने का काम सौंपा था (गैट 1933)। इस प्रकार *बुरँजियों* का प्रमुख संग्रहण ब्रिटिश आगमन के बाद हुआ, यहाँ की भूमि और लोगों के बारे में समझने के लिए क्योंकि असम की ऐतिहासिक और सामाजिक परंपराओं के बारे में उनका कोई पूर्व-ज्ञान नहीं था। ज़ाहिर है जिन लोगों को *बुरँजियों* के संग्रह और अनुवाद के काम में लगाया गया था और इसकी ज़िम्मेदारी सौंपी गई थी, ये वे लोग थे जो ब्रिटिश भारत की आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में शिक्षित हुए थे और इसके दृष्टिकोण तथा ऐतिहासिक शोध की विधि से अत्यंत प्रभावित थे। इसके बाद से हम कह सकते हैं कि *बुरँजी* अहोम साम्राज्य की क्षेत्रीय

भाषा तक सीमित नहीं रह गई थी बल्कि उसे ऐतिहासिक प्रक्रिया के व्यापक संदर्भ में पुनः व्याख्यायित किया जा रहा था। विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है डॉ. सूर्य कुमार भुयान द्वारा दिया गया योगदान, जिन्होंने असम के इतिहास के पुनःनिर्माण में सहायता करने हेतु कई महत्वपूर्ण *बुरँजियों* का चयन कर उन्हें व्यवस्थित और संपादित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया, महत्वपूर्ण है। अन्य शख़्यित जिन्होंने ***पुथी*** (पांडुलिपियों) का पता लगाने, उनकी पहचान और उनका चयन करते हुए उन्हें व्यवस्थित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया, वह हेमचंद्र गोस्वामी थे, जिन्हें 1914 में असम के मुख्य आयुक्त श्री आडेल के नायब के रूप में, विभिन्न भागों में बिखरी हुई पांडुलिपियों को संग्रहित करने के लिए, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अहोम शासन के प्रभाव में रची गई थीं, नियुक्त किया गया था। पांडुलिपियों का यह संग्रह विशिष्ट जानकारियों से युक्त था क्योंकि भारतीय परम्परा की अन्य पांडुलिपियों के साथ-साथ यह विभिन्न विषयों और प्रसंगों पर दस्तावेज़ों को सामने लाया, जैसे वानस्पतिक विज्ञान जिसमें औषधीय पौधों का आर्थिक वर्णन भी शामिल था, इत्यादि (गोस्वामी 1930)। यह केवल ब्रिटिश आगमन के बाद ही संभव हुआ कि *बुरँजी* में मौजूद जानकारियाँ आम जनता के सामने आईं, उन महानुभावों के संकलन और संग्रहण के प्रयासों से जिन्होंने ऐतिहासिक अनुसंधान की आधुनिक प्रविधि में प्रशिक्षण हासिल किया था।

11.6 उत्पत्ति

अहोम, शान नृजातीय समूह की एक शाखा हैं जिन्हें ताई या थाई भी कहा जाता है और यह मूल रूप से दक्षिण-पूर्व एशिया से संबंध रखते हैं, वे 1228 में असम पहुँचे थे। एक नवीन वैज्ञानिक खोज द्वारा यह पुष्टि की गई है कि असम के ताई-अहोम थाई लोगों के साथ सामान्य जीन आधारित गुणों को साझा करते हैं[1]। *बुरँजियों* पर आधारित असम का इतिहासलेखन यह दर्शाता है कि शान पहले चीन की ओर प्रवासित हुए और बाद में यून्नान के मुंगरीमुंगराम को उन्होंने अपना वतन बनाया जो बाद में एक केंद्रीय राज्य पर निर्भर कई छोटे राज्यों वाले एक देश के रूप में विस्तारित होता गया (ने एलियास 1876)। अहोम मुंगरीमुंगराम को अपने मूल देश के रूप में पहचानते हैं जहाँ उनका कनिष्ठ पूर्वज, खुनलाई शासन करता था।

अहोम राज्य के संस्थापक, सुकफा, का जन्म ऊपरी बर्मा के माऊलुंग में हुआ था, जो मुंगरीमुंगराम का एक हिस्सा था। 1215 के आसपास सुकफा ने अपने भाई के साथ एक विवाद के कारण अपना घर छोड़ दिया और अपनी क़िस्मत आजमाने के लिए पटकाई पर्वत श्रृंखला की ओर निकल गया। रास्ते में उसने बहुत सी स्थानीय जनजातियों, जैसे नौक्ते, वांचू, तंगसा नागा और अन्य, पर विजय तथा आधिपत्य क़ायम किया जिन्होंने एक दशक से भी अधिक समय तक प्रतिरोध करने के बाद अंततः उसकी सत्ता को स्वीकार कर लिया था। सुकफा 1228 में ब्रह्मपुत्र घाटी पहुँचा, बहुत सी पिछड़ी जनजातियों को शांत करने तथा अपने अधीन बनाने के बाद और अंततः वर्तमान असम के शिबसागर में चराईदेव में अपनी राजधानी स्थापित करने के बाद वहाँ बस गया। यह सुकफा ही था जो *बुरँजी* की परम्परा को अपने साथ लेकर आया, जब उसने अपने अनुयायियों को ब्रह्मपुत्र घाटी की यात्रा के दौरान घटित हुई घटनाओं को लेखबद्ध करने का निर्देश दिया और इस परम्परा को उसके उत्तराधिकारियों द्वारा 1826 में यंडाबू संधि[2] के परिणामस्वरूप उनके शासन के अंत होने तक जारी रखा गया।

सुकफा ने 1268 तक शासन किया और उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र सुतेउफा बना जिसने शिबसागर के पश्चिम में नामडांग नदी तक अहोम साम्राज्य का विस्तार किया जो आगामी 200 सालों तक इस राज्य की सीमा बनी रही। नामडांग नदी को सीमा के रूप में स्थापित करने का एक कारण स्थापित राजवंशों, जैसे चुटिया, कचारी, और भुयान, इत्यादि से प्रत्यक्ष सामना करने से बचना हो सकता था (बरुआ 1986)। ये राजनीतिक इकाइयाँ 16वीं शताब्दी तक प्रभावी नियंत्रण में आ चुकी थीं, जिसने असम में अहोमों को सर्वोच्च सत्ताधारी वंश का स्थान दिया लेकिन उनकी विस्तारवादी नीति पर पश्चिम में कूचों द्वारा लगाम लगाई गई और बाद की शताब्दियों में वे मुग़ल थे जो उनके सबसे बड़े प्रतिद्वंद्वी के रूप में उभरे (गोस्वामी 2012)। अहोम या ताई शानों का आगमन पूर्वोत्तर भारत के इतिहास में एक नई प्रवृत्ति की शुरुआत थी जिसने एक ग़ैर-आर्य शासन को संगठित करते हुए

[1] https://www.telegraphindia.com/north-east/dna-samples-throw-light-on-thai-ahom-link/cid/1447621

[2] ब्रिटिश सेना द्वारा बर्मी सेना को हराने में अहोमों की मदद के बाद यंडाबू संधि पर अहोमों तथा ब्रिटिशों ने 1826 में बर्मी राजा के साथ हस्ताक्षर किए थे। यह असम की राजनीति में ब्रिटिश सत्ता के पदार्पण को सूचक है।

अंततः एक विशिष्ट क्षेत्रीय राजव्यवस्था और पहचान का आधार निर्मित किया (बरुआ 1986)।

यद्यपि अधिकांश उपलब्ध पांडुलिपियाँ 17वीं व 18वीं शताब्दी में तिथिबद्ध की जा सकती हैं, इनमें कई पुराने ग्रंथों की नक़ल और साथ ही उनकी चर्चा भी की गई है, जिससे यह भी पुष्टि होती है कि *बुरँजियों* का अहोम शासकों की आने वाली पीढ़ियों के निर्देशों पर सावधानीपूर्वक नवीनीकरण किया जाता रहा, जिन्होंने 15वीं शताब्दी से *स्वर्गदेव* (देवता समान राजा) की उपाधि ग्रहण कर ली थी। *देउधाई* (पुरोहित), *काकती* (कूटनीतिज्ञ) और प्रमुख कुलीन व्यक्तियों और उनके परिवार अपनी ऐतिहासिक परम्परा की निरंतरता को बनाए रखने के लिए अतीत की सभी प्रमुख घटनाओं को विश्वसनीय ढंग से प्रतिलिपित, संशोधित और लेखबद्ध करते थे। मूल रूप से *बुरँजियों* को *गोंधिया भोराल* नाम से जाने जाने वाले भंडार-गृह में रखा जाता था और राजदरबार के अधिकारी जिसे *गोंधिया फूकान* कहा जाता था तथा पांडुलिपि/इतिहासलेखन विभाग, जिसका प्रमुख *बोरगोहेन* नाम का उच्च राज-अधिकारी होता था, के निरीक्षण में रखा जाता था। अहोम, *बुरँजी* को पवित्र तथा प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का स्रोत मानते थे, और राजकुमारों व राजदरबार के कुलीनों की संतानों के लिए इस ज्ञान सृजन के क्षेत्र में प्रवीण होना अनिवार्य था। *बुरँजियों* के ज्ञान में पारंगत होना सत्ता तथा वैधता से जुड़ा था और इसलिए कई कुलीन परिवार अधिकारिता तथा आत्मोन्नति के स्रोत के रूप में स्वयं *बुरँजियों* को रचने और उनको अपने पास रखने पर ध्यान देते थे। इन लेखों की मान्यता इतनी महत्व की थी कि *बुरँजी* के अंशों को कुछ अवसरों पर सार्वजनिक रूप से पढ़ा जाता था और शाही विवाह के कार्यक्रम में भी इनका वाचन किया जाता था। इस प्रकार की रीतियों से अहोमों ने अपने पूर्वजों को सम्मान देना और याद रखना जारी रखा था (डेका 2016)।

11.7 कुछ *बुरँजियाँ*

गद्य और पद्य में लिखी गई *बुरँजियाँ* 'संख्या में अधिक और आकार में विस्तृत' हैं और पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में ऐतिहासिक दस्तावेज़ों के संकलन की यह परम्परा अन्य सांस्कृतिक परंपराओं के साथ अहोमों द्वारा लाई गई जब वे असम के क्षेत्र में आव्रजित हुए, इसने देश के इस भाग में ऐतिहासिक चेतना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है (डेका 2016)। ताई-अहोमों की पुरानी लेखन प्रणाली पूर्ण रूप से विकसित नहीं थी अतः आधुनिक समय के इतिहासकारों के लिए इन्हें पढ़ पाना एक दुष्कर कार्य है (हार्टमन 1997)। जहाँ असम के इतिहासकारों ने पूर्व-औपनिवेशिक असम के इतिहास की चर्चा करते हुए, विशेष रुप से अहोम शासन के शुरुआती भाग की, कई अनाम लेखकों द्वारा लिखित *बुरँजियों* का संदर्भ दिया है, इनके श्रेणीकरण की पद्धति को लेकर किसी भी तरह की स्पष्टता नहीं रही है। तथापि, *बुरँजियों* को दो प्रकार की श्रेणियों में रखा जा सकता हैः 1) सरकारी इतिवृत्त जो राज्य/अहोम साम्राज्य के साथ संबंध रखते हैं और अहोमों के अधीन राजनीतिक व्यवस्था को समझने में सहायता करते हैं; और 2) पारिवारिक/विद्वानों की *बुरँजियाँ* जो अहोमों के सामाजिक सांस्कृतिक पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं।

सरकारी *बुरँजियों* में प्रमुख राजनीतिक घटनाओं से संबंधित सामग्री और चर्चाओं को शामिल किया गया है, सटीक तिथियों और स्थानों के नामों, युद्धों के वर्णनों और रणनीतियों, संधियों, कूटनीतिक दूतों द्वारा लिखे गए पत्रों, गुप्तचरों के प्रतिवेदनों और ऐसे ही अन्य दस्तावेज़ों के साथ जो अहोम राज्य-तंत्र के संबंध में जानकारी का बहुमूल्य स्रोत हैं। कुछ अन्य प्रकार के लेखन अहोमों के सामाजिक और सांस्कृतिक पहलुओं पर रोशनी डालते हैं, जैसे दरबारी कुलीनों की पारिवारिक वंशावली, पुरोहित वर्गों और राज परिवार के सदस्यों की जानकारी, जिसमें महारानियों की जीवनशैली की जानकारी भी शामिल है। अक्सर, इतिवृत्तकारों ने स्वयं घटनाओं को देखा होता था, यद्यपि *बुरँजी* में लेखकों का नाम विरले ही मिलता है, केवल अहोम शासन के अंत में जाकर ही *बुरँजियों* में उनके लेखक का नाम देखने को मिलता है (सैकिया 2008)। काशीनाथ तामुली फुकान द्वारा रचित *अहोम बुरँजी* के रूप में प्रकाशित होने वाला पहला इतिवृत्त 1844 में अमेरिकी बैपटिस्ट मिशन की शिबसागर शाखा द्वारा प्रकाशित था। इस इतिवृत्त का विस्तृत संस्करण सदारामिन हरकांत बरुआ (1818-1900) द्वारा लिखा गया जो अहोम शासन के अंतिम चरण और असम में ब्रिटिश शासन के सुस्थापित होने का साक्षी रहा था। इसे बाद में व्यापक पाठक वर्ग के लाभार्थ मूल स्वरूप में बिना अधिक परिवर्तन किए एस. के. भुयान द्वारा संपादित किया गया और असम के इतिहास तथा प्राचीन अध्ययन विभाग द्वारा प्रकाशित करवाया

गया। *असम बुरँजी* के इस विस्तृत संस्करण में अहोम शासन की शुरुआत से लेकर 1826 में असम में ब्रिटिश कब्ज़े तक के काल को समाहित किया गया है। काशीनाथ तामुली की प्रारंभिक *असम बुरँजी* अहोम राजा *स्वर्गदेव* पुरंदर सिंह तथा उनके अधिकारी राधानाथ बरबरुआ के निर्देशों तथा निरीक्षण के अधीन लिखी गई थी।

सुकाफा के समय से ही इंद्र के इन वंशजों (अहोम शासक स्वयं को *इंद्रवंशी* कहते थे) पर *बुरँजियों* के कई रूपांतर लिखे गए थे, कभी-कभी यह एक-दूसरे से विरोध रखते थे जो पाठकों के लिए भ्रम पैदा करने वाला था। इस प्रकार के ऐतिहासिक अंतर्विरोध को दूर करने के लिए *स्वर्गदेव* पुरंदर सिंह ने सभी *बुरँजियों* को विभिन्न प्रांतों से एकत्र करवाया और अहोम (असम) की एक संक्षिप्त *बुरँजी* की रचना करवाई। लेकिन *बुरँजी* के इस संस्करण की हरकांत बरुआ द्वारा अहोम इतिहास के कई महत्वपूर्ण पहलुओं को छोड़ देने और केवल विभिन्न अहोम राजाओं के शासन में होने वाली घटनाओं का वर्णन करने के लिए आलोचना की गई (बरुआ 1930)। इस प्रकार इस *बुरँजी* का हरकांत बरुआ द्वारा किए गए संशोधन में लोगों से एकत्र कई लोकप्रिय आख्यान और कथाएँ भी शामिल थीं। इस संशोधित *बुरँजी* से ही हुतात्मा राजकुमारी सती जयमती की प्रख्यात कथा का तर्कपूर्ण रूप सामने आया और उसी प्रकार चाउडांग (Chaudang) यानी वंशानुगत वधिकों के विषय में भी जानकारी मिली। हरकांत की *बुरँजी* में वर्णित चाउडांगों के जीवन तथा कृत्यों से अहोम शासन के दौरान राजा के आदेशों का उल्लंघन करने वालों को दिए जाने वाले दंड की प्रकृति के विषय में पता चलता है। यातना तथा वध करना चाउडांगों के दिन-प्रतिदिन के कार्य का हिस्सा था जो कई बार अपने कर्तव्यों के निर्वहन में अहोम विधियों की सीमा से भी पार चले जाते थे। हरकांत की *बुरँजी* के अनुसार, जयमती की मृत्यु चाउडांग द्वारा उन्हें दी गई यातनाओं के कारण हुई थी। अहोम शासन की भलाई के लिए अपने पति की रक्षा हेतु जयमती द्वारा दिए गए बलिदान को स्थानीय ऐतिहासिक आख्यानों को ज़िंदा रखते हुए असम की लोकप्रिय संस्कृति के तत्वों जैसे कविताओं, लघु कथाओं, नाटकों, फिल्मों, आदि में कई रूपों में प्रस्तुत किया जाता रहा है।

विद्वानों द्वारा अधिकतर उपयोग में लाई गई कुछ *बुरँजियों* की यहाँ चर्चा की जा रही है:

11.7.1 *देउधाइ बुरँजी*

देउधाइ (पुरोहित) *बुरँजी* को अहोमों की प्राचीनतम लिखित पांडुलिपि माना जाता है, जिसमें मुख्यतः सृष्टि संबंधी मिथकों और कथाओं का वर्णन है। *देउधाइ* द्वारा वर्णित अहोमों की उत्पत्ति की कथा ऊपरी बर्मा के शान लोगों द्वारा संरक्षित कथा से अत्यंत समानता रखती है। इसका अन्य रूपांतर ब्राह्मणों द्वारा किए गए सशोधनों के साथ है जो उस प्रक्रिया को समझने के लिए महत्वपूर्ण है जिससे अहोम समाज हिंदू प्रभाव के परिणामस्वरूप गुज़र रहा था। *देउधाइ* कथा के मुताबिक, लैंगडन (सर्वशक्तिमान) ने अपने पुत्र थेंगखाम को धरती पर उतरने और वहाँ एक राज्य स्थापित करने को कहा, किंतु थेंगखाम स्वर्ग को त्यागने को तैयार नहीं था और उसने अपने दो पुत्रों खुनलुंग (ज्येष्ठ राजकुमार) तथा खुनलाई (कनिष्ठ राजकुमार) को अपने अनुचरों के साथ एक लौह या स्वर्ण जंजीर के माध्यम से धरती पर भेजने की व्यवस्था की, और इस प्रकार मुंगरीमुंगराम[3] (अनिवासित देश) की स्थापना की। लैंगडन ने उन्हें 'सोमदेव कही जाने वाली एक मूर्ति, एक जादुई तलवार जिसे हेंगडान कहा जाता है, दैवीय सहायता का आह्वान करने वाले दो ढोल तथा शकुन संकेत बताने वाले चार मुर्गे भी सौंपे'। सोमदेव की मूर्ति को सुकाफा अपने साथ लाया जब वह अपने 1080 अनुयायियों (ये उल्लेख नहीं है कि उनमें कौन थे, स्त्री, पुरुष या बच्चे), नर और मादा हाथी के एक जोड़े, 300 घोड़ों, *बुरगोहेन* तथा *बोरगोहेन* (कुलीनों) के साथ घर से निकला था (बरुआ 1930)। सोमदेव की यह मूर्ति बाद के अहोम शासक *स्वर्गदेव* पुरंदर सिंह के पास थी जब 1819 में उसने बंगाल में शरण ली। इस कथा के संशोधित रूपांतर में, जिसे ब्राह्मणीय प्रभाव में गढ़ा गया था, लैंगडन इंद्र बन जाता है तथा अहोमों को *इंद्रवंशी* के रूप में प्रस्तुत किया गया गया है। बाद के वर्णन की शैली हिंदू परम्परा की तरह ही है, जिसमें *देउधाइ* अपने मुख्य देवताओं की पहचान हिंदू देवता से करते हैं (गैट 1905)।

देउधाइ असम बुरँजी का संपादन एस. के. भुयान द्वारा किया गया था जो अनाम लेखकों द्वारा रचे गए चार लघु इतिवृत्तांतों का संकलन है। यह अहोम वंश की उत्पत्ति के वर्णन से शुरू होती है और

[3] मुंगरीमुंगराम की पहचान वर्तमान में दक्षिणी चीन के युन्नान प्रांत में की गई है।

प्रथम राजा सुकाफा से नारिया *राजा* (राजा सुतयिंगफा के काल; 1644-48) तक का वर्णन करती है जिसे अपनी बीमारी के कारण 'केकोरा' (वक्र) राजा भी कहा जाता था। इसके साथ ही *देउधाइ असम बुरँजी* शासक वंशों के रूप में अहोमों की शुरुआती ऐतिहासिक यात्रा की चर्चा करती है और कारण भी बताती है कि अहोम शासन का संस्थापक सुकाफा क्यों स्वयं को एक सफल शासक के रूप में स्थापित होने में सफल हुआ, अपनी दूर दृष्टि और राज्यकौशल के कारण, जिसने उसे असम की अपनी यात्रा के दौरान कई जनजातीय संघों पर विजय पाने में समर्थ बनाया। *देउधाइ बुरँजी* से ही अहोमों

THE CREATION.

1. ꩍ ꩄꩍ ꩆꩍ ꩄ ꩍ ꩄ ꩇꩍ ꩇꩌ ꩌꩍ।
ꩇ।। ꩇ ꩌ ꩍ।। ꩆꩍ ꩄ ꩌ ꩇꩍ ꩄ ꩇ ꩌ
ꩍ।। ꩇꩍ ꩄ ꩌꩍ ꩇ ꩌ ꩄꩍ ꩍ।। ꩇꩍ
ꩄ ꩌꩍ ꩍ ꩌꩍ ꩇꩍ ꩆꩍ ꩇꩍ ꩌꩍ। ꩇꩍ ꩄ
ꩇ ꩌ ꩆꩍ।

1. In the beginning there were no gods and men. The world was void and was surrounded by the water of the ocean. There were no air, no animals, no land, no rulers, no countries and no living beings. Also the sun, the moon and the stars did not exist. There was neither the earth nor the heaven.

के प्रमुख पड़ोसी जनजातियों के साथ संबंधों को समझा जा सकता है।

ताइ-अहोम भाषा (बाएँ) तथा जी. सी. बरुआ का अंग्रेज़ी अनुवाद
यह *देउधाइ बुरँजी* के उत्पत्ति-संबंधी मिथक वाले खंड का हिस्सा है
स्रोतः जी. सी. बरुआ, (1930) *अहोम बुरँजीः फ्रॉम द अर्लीएस्ट टाइम टू द एन्ड ऑफ द अहोम रूल* (कलकत्ताः बैपटिस्ट मिशन प्रैस)

11.7.2 *कामरूपोर बुरँजी*

सूर्य कुमार भुयान ने *कामरूपोर बुरँजी* को पुरानी *बुरँजी* पांडुलिपियों से सम्पादित तथा संकलित किया था। यह प्राचीन असम, जिसे कामरूप कहा जाता था, का ऐतिहासिक वृत्तांत है और इसमें असम तथा कूचबिहार का मुग़लों के साथ संघर्ष भी शामिल है। इन पांडुलिपियों को कामरूप अनुसंधान समिति तथा गुवाहाटी के अमेरिकी बैप्टिस्ट मिशन से संग्रहित किया गया था। अमेरिकी बैप्टिस्ट मिशन के संग्रह में शामिल पांडुलिपियों का पहली बार प्रकाशन 1853 में पहली असमी पत्रिका *ओरुंदोई* में हुआ था। इस प्रकार, यह संग्रह, जिसमें ग्यारह अध्याय शामिल हैं, ऊपरी असम में सादिया से लेकर ब्रह्मपुत्र की घाटी तक विस्तृत क्षेत्र का वर्णन करती है और उन ऐतिहासिक विकासक्रमों को समाहित करती है जो प्राचीन काल से संबंध रखते हैं, जिसे हिंदू कामरूप के रूप में उल्लिखित किया गया है, इसमें पूर्व-मध्यकाल में कामरूप के क्षेत्र में अहोमों के शासनकाल में विदेशी/बाहरी (मुसलमानों) के आगमन की सूचना से लेकर ब्रिटिश आगमन की जानकारी मिलती है। इस *बुरुँजी* के बड़े हिस्से को मुग़ल-अहोम युद्ध के ठीक बाद लिखा गया था जैसा कि अहोम राजदूतों द्वारा प्रयुक्त बाहरी प्रभावों से मिश्रित शब्दावली से समझा जा सकता है। लेकिन अठारहवीं शताब्दी के आख़िरी हिस्से और उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत में लिखी गई *बुरँजियाँ* विशुद्ध असमी में हैं, जिनमें बाहरी प्रभाव देखने को नहीं मिलता है। बहरहाल, ये नए शब्दों के उभरने तथा उनके उपयोग के बारे में भी जानकारी देती हैं, विशेषकर इस क्षेत्र का संकेत करने के लिए असम, असाम, असोम, अखोम, इत्यादि शब्दावलियों का उपयोग (भुयान 1930)।

कामरूपोर बुरँजी का पहला भाग प्राचीन असम के विभिन्न शासकों के नामों का उल्लेख करता है और गौड़ (बोंगो) के धर्मपाल के शासक बनने का उल्लेख करता है। उसके दरबार में सेवा हेतु बहुत से ब्राह्मण समुदायों के आगमन को सम्भवतः प्राचीन असम में ब्राह्मण आव्रजन की पहली लहर के रूप में देखा जा सकता है, जिसने अंततः ब्राह्मणीय परम्पराओं को फैलाया। एक ब्राह्मण केंदुकोलाई की कहानी विशेष रूप से दिलचस्प है क्योंकि इन आख्यानों ने कामाख्या मंदिर में उपासना की प्रकृति और बाद में निचले असम क्षेत्र से ब्राह्मणों के आगमन को प्रभावित किया था। मध्यकालीन असम में ग़ियासुद्दीन बलबन के अभियान, इससे इस क्षेत्र में हुए ध्वंस तथा हानि को आँकते हुए, इसका सजीव वर्णन भी इसमें मिल जाता है, जो एक दुर्लभ जानकारी है। *कामरूपोर बुरँजी* को उच्च-स्तरीय माना जाता है, क्योंकि यह मध्यकाल में असम के ऐतिहासिक स्थान के लिए सामयिक अंतर्दृष्टि उपलब्ध कराती है। एक तथ्य जो *कामरूपोर बुरँजी* को अलग महत्व प्रदान करता है, वह है इसके द्वारा उपलब्ध

अहोम शासकों की सैन्य तथा राजनीतिक रणनीतियों और सत्ताधारी अभिजात्यों तथा असम के लोगों में मज़बूत देशभक्ति की भावना की जानकारी।

11.7.3 *पादशाह (बादशाह) बुरँजी*

यह पुनः एस. के. भुयान ही थे जिन्होंने *पादशाह बुरँजी* (दिल्ली के बादशाहों के इतिवृत्त) का अपने मूल रूप में संग्रह कर अंग्रेज़ी में एक आमुख और प्रस्तावना के साथ इसका 1935 में कामरूप अनुसंधान समिति द्वारा प्रकाशन करवाया। *पादशाह बुरँजी* असम के मुस्लिम इतिहास के लिए एक मूल्यवान स्रोत है जो इस क्षेत्र को एक महत्वपूर्ण तरीके से शेष भारतीय उपमहाद्वीप के साथ ब्रिटिश-आगमन से पूर्व जोड़ती है। असम हमेशा से मुसलमानों के आक्रमण की योजना में शामिल रहा था और कामरूप पर अधिकार करने का पहला प्रयास 1205 में, मुहम्मद बख्तियार द्वारा किया गया, जो एक खलजी तुर्क था। उत्तरी गुवाहाटी के एक शिलालेख के अनुसार यह अभियान प्राकृतिक आपदाओं के कारण असफल रहा था, जब मुस्लिम सेनाओं को उफनती नदी ने अपने में समा लिया था (भुयान 1947)।

इस *पादशाह बुरँजी* के तथ्यात्मक भाग को अन्य स्रोतों के साथ रखकर देखा गया है, जो मुस्लिमों के आक्रमण की गाथा का बखान करते हैं। इसमें भारत में उनके शासन के सदृढ़ीकरण और *मनसबदारी* जैसी नई प्रशासनिक प्रणालियों की शुरुआत, इसके बाद मुग़लों के आगमन का कालानुक्रमिक ढंग से वर्णन किया गया है। इसमें मध्यकालीन भारत में घटित होने वाली महत्वपूर्ण घटनाओं को दस्तावेज़बद्ध किया गया है। अहोम शासकों तथा मुग़लों के बीच आदान-प्रदान में सबसे महत्वपूर्ण विशेषता विभिन्न उच्च पदस्थ राज्याधिकारियों, जैसे बादशाह औरंगज़ेब, मीर जुमला, नवाब दिलेर ख़ान तथा अन्य, के साथ पत्रों के माध्यम से होने वाला आदान-प्रदान है जिससे इन कूटनीतिक पात्राचारों में प्रयुक्त सार्वदेशिक भाषा का पता चलता है। *पादशाह बुरँजी* की कुछ पांडुलिपियों में पायी जाने वाली उर्दू मिश्रित फ़ारसी की दिलचस्प प्रविष्टियाँ *बुरँजियों* की समय-विशेष में उपस्थिति का संकेत करती हैं, यद्यपि यह प्रवृत्ति बाद के समय में देखने को नहीं मिलती है।

11.7.4 *त्रिपुरा बुरँजी*

त्रिपुरा बुरँजी का संकलन 1724 में दो असमी राजदूतों – रत्न कंडली सरमा और अर्जुन दास बैरागी – द्वारा किया गया जिन्हें *स्वर्गदेव* रूद्र सिम्हा ने त्रिपुरा में राजदूत के रूप में भेजा था और जो त्रिपुरा के साथ अहोम संबंधों के इतिहास के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत है, इसके साथ ही मुग़ल भारत पर भी यह नया प्रकाश डालती है। *त्रिपुरा बुरँजी* की मूल पांडुलिपि में विभिन्न कूटनीतिक संचारों और अंतर-संवादों पर, जो अहोम और त्रिपुरा के शासकों के बीच घटित हुए, 40 अध्याय थे। यह एक ओर तो 18वीं शताब्दी के आरंभ में मौजूद परस्पर संवाद के स्तर को प्रकट करता है और दूसरी ओर अहोम शासक की पुरानी सीमाओं के बाहर अपने प्रभाव को विस्तृत करने की महत्वाकांक्षा को भी प्रकट करता है। इन दोनों राजदूतों को 1714 में तिपेरा (त्रिपुरा) के राजा ने रत्नमानिक के दरबार में भेजा था, 'मुग़लों के विरुद्ध हिंदू शासकों के संघ के निर्माण के उद्देश्य के साथ' (गोगोई 2020)। इस प्रकार *पादशाह बुरँजी* की तरह *त्रिपुरा बुरँजी* का असम की *बुरँजियों* में एक विशेष स्थान है जो इस क्षेत्र को बाहर की दुनिया के साथ जोड़ती है। *त्रिपुरा बुरँजी* को विद्वानों ने इसमें निहित जानकारी की प्रकृति के कारण एक यात्रा-वृत्तांत के रूप में भी देखा है क्योंकि इसमें दोनों पक्षों के बीच हुए संवादों के सरकारी वृत्तांत के साथ ही लोगों, स्थानों और रीतियों का भी वर्णन है। इसके लेखकों ने त्रिपुरा की अपनी यात्रा और वहाँ से वापसी के दौरान बीच में पड़ने वाले स्थानों का वर्णन करने के लिए इस वृत्तांत का उपयोग किया है। इस तरह से यह इतिवृत्तांत बाद के अहोम काल में यात्रा-दस्तावेज़ों के लिए मार्गदर्शक बना रहा।

11.7.5 *तुंगखुंगिया बुरँजी*

यह अहोमों के आख़िरी शासक वंश का इतिहास है जिसका समापन ब्रिटिशों के साथ यंडाबू की संधि पर हस्ताक्षर किए जाने के साथ हुआ। तुंगखुंगिया वंश ने असम में 1681-1826 तक 145 वर्षों तक शासन किया था। इस इतिवृत्त के मूल लेखक श्रीनाथ दुआरा बरबरुआ थे जिन्होंने *तुंगखुंगिया बुरँजी* को मार्च 1804 में संकलित करना शुरू किया। यद्यपि इस संकलन में केवल तुंगखुंगिया काल के उत्तरार्द्ध, 1751 से 1806 तक का काल, के वृत्तांत शामिल थे, लेकिन उस समय की जटिल राजनीतिक

और सामाजिक प्रवृत्तियों को समझ पाने में इसकी प्रासंगिकता संदेह से परे है। इसके प्रथम राजा गदाधर सिंह के अधीन इसकी स्थापना के उथल-पुथल भरे काल का वर्णन करते हुए, जिसने 11 वर्षों का लंबा संकट-काल देखा था और जिसका परिणाम आने वाले समय में अहोम शासन के क्रमिक रूप से कमज़ोर पड़ जाने पर हुआ, यह असम के इतिहास के बहुत ही महत्वपूर्ण हिस्से के विषय में बताती है। तुंगखुंगिया वंश से पहले अहोम राज्य अत्यधिक संकट की स्थिति में था क्योंकि इसके अत्यधिक महत्वाकांक्षी मंत्री, विशेष रूप से लालूकसोला बरफुकान जिसने बंगाल के सूबेदार के नायब मंसूर ख़ान के साथ मिलकर स्वयं संप्रभु बनने की कोशिश की थी, तत्कालीन राजा सुदईफा पर्वतीय राजा को अपदस्थ करके और सभी संभावित प्रतिस्पर्धियों को ख़त्म करके या उन्हें अयोग्य बनाकर अर्थात उनका अंग-भंग या उनके अंगों को क्षति पहुँचाकर क्योंकि अहोम शासन के अनुसार केवल शारीरिक दोष से मुक्त और सक्षम शरीर धारण करने वाले राजकुमार को ही संप्रभु के तख्त पर आसीन किया जा सकता था, उसने सत्ता और राजा के प्राधिकार का अपहरण कर लिया। इन अराजक परिस्थितियों में राजकुमार गोडापानी को लालूकसोला के आतंक के कारण छुपकर भागना पड़ा और उसकी पत्नी राजकुमारी जयमती कुंवरी को बंदी बना लिया गया। जयमती कुंवरी की कहानी असम की *बुरँजियों* में सर्वाधिक ख्यात आख्यान है, जिसने असमी मस्तिष्क पर गहरी छाप छोड़ी है। गोडापानी को बाद में आनुवंशिक अधिकारियों द्वारा गजाधर सिंह के नाम से गद्दी पर बैठाया गया। इस इतिवृत्त का कई स्रोतों पर आधारित एक संपादित और विस्तृत आधुनिक संस्करण 1968 में एस. के. भुयान द्वारा *तुंगखुंगिया बुरँजी* के रूप में प्रकाशन करवाया गया था। *तुंगखुंगिया* नाम अहोमों के इस आख़िरी राजवंश के पूर्वजों के पैतृक स्थान ऊपरी असम से लिया गया है।

तुंगखुंगिया बुरँजी इस राजवंश के शासन के दौरान मुख्यतः राजाओं और उनके समयों का एक विवरण है, लेकिन यह साथ ही महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाक्रमों का वर्णन करती है, जैसे बर्मा की संकट पैदा करने वाली स्थिति जो अहोम संपत्ति का दोहन कर रही थी और अंतिम अहोम शासकों की बर्मी लोगों से युद्ध करने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी से सहायता लेने की मजबूरी, किंतु जिसका अंततः परिणाम 1826 में यांडबू की संधि के द्वारा एक विदेशी सत्ता को अपनी संप्रभुता गंवा देने में निकला।

बोध प्रश्न-2

1) *बुरँजी* की ऐतिहासिक उत्पत्ति की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

2) भारतीय इतिहास के बृहद् परिप्रेक्ष्य में *बुरँजी* की ऐतिहासिक महत्ता की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

11.8 सारांश

इस इकाई में हमने मध्यकालीन और प्राक्-आधुनिक मराठा राजव्यवस्था को समझने में गद्य विवरणों के रूप में *बखर* के महत्व की पहचान की है। महाराष्ट्र में, विशेष रूप से आज के समय में भी, ऐतिहासिक अतीत का स्मरण सार्वजनिक जीवन का एक विशेष लक्षण है। *बखर* के विवरण धर्म और ब्राह्मणीय मूल्यों के अन्य रूपकों की अभिव्यक्ति के माध्यम से इस क्षेत्र के विचारधारात्मक अंतर-प्रवाह को व्यक्त करते हैं, जिसने इस क्षेत्र में सर्वजनों पर हिंदुओं की श्रेष्ठता की उद्घोषणा की है। *सभासद* और *चिटनिस बखर* शिवाजी के जीवन-चरित का रेखाचित्र प्रस्तुत करते हैं, जिसे प्रशासनिक और राजनीतिक उपलब्धियों के लिए सम्मानित और याद किया जाना चाहिए क्योंकि उन्होंने मुग़लों को चुनौती दी थी। शासकों के जीवन-चरित्र की रचना करने के अतिरिक्त *बखर* प्रमुख परिवारों की वंशावलियों तथा महत्वपूर्ण युद्धों के वृत्तांतों को भी शामिल करते हैं। भले ही इनकी ऐतिहासिकता बहस का विषय रही हो, तथापि ये क्षेत्रीय वृत्तांत अतीत के संबंध में, साहित्यिक अलंकरणों के माध्यम से रचनात्मक कल्पना का उपयोग करते हुए, एक वैकल्पिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस इकाई के *बुरँजी* वाले भाग में हमने इस इतिहास लेखन की परम्परा के विषय में जाना जो मूल रूप से पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया से आई ऐतिहासिक परम्परा थी। इस पर भारत की विभिन्न ऐतिहासिक परंपराओं का प्रभाव भी पड़ा। सारांशतः कहा जा सकता है कि असम के इतिहास का पुनर्निर्माण मुख्यतः *बुरँजियों* के आधार पर ब्रिटिश और आधुनिक असम के इतिहासकारों ने किया है।

11.9 शब्दावली

अहोम नृजातीय रूप से शान समूह के लोगों से संबंधित जिनका दक्षिण-पूर्व एशिया से आव्रजन हुआ था। ऐतिहासिक रूप से वे दक्षिण-पूर्व एशिया, दक्षिणी चीन, बर्मा/म्यांमार तथा असम में फैले हुए थे। असम में उन्हें ताइ-अहोम या अहोम (असमी) लोगों के रूप में जाना जाता है

आख्यायिका इसका तात्पर्य कथा से होता है तथा इसकी उत्पत्ति पुरातन पौराणिक आख्यायिकाओं से हुई है, जिन्हें ऐतिहासिक घटनाओं या चरित्रों पर आधारित साहित्य या रचनात्मक कथाओं के रूप में समझा जाता है

बखर *बखर* मराठी में लिखित गद्य ऐतिहासिक आख्यान हैं। 17वीं शताब्दी से लेकर 19वीं शताब्दी तक महान् शासकों की जीवनियों, प्रमुख परिवारों की वंशवालियों तथा महत्वपूर्ण युद्धों के विवरणों से संबंधित 200 से भी अधिक *बखर* रचे गए हैं, जो इस क्षेत्र की राजव्यवस्था और प्रशासन पर रोशनी डालते हैं

बुरँजी अहोम वंश के ऐतिहासिक वृत्तांतों की एक शैली, जिसने 1228-1826 से असम के बड़े हिस्से पर शासन किया था

गद्य लिखित या वाचिक भाषा जो पद्य न हो

पुथी(याँ) पांडुलिपि, न केवल *बुरँजी* पांडुलिपियाँ बल्कि सभी प्रकार की पांडुलिपियाँ, जिनका उपयोग अगली पीढ़ी के *बुरँजी* लेखकों द्वारा *बुरँजियों* की पुनर्रचना के लिए किया जाता था

शाकावली शब्दशः, वर्षों का क्रम या परिवारों और वंशानुगत अधिकारियों द्वारा तैयार किए गए इतिवृत्त जिनमें जन्म, मृत्यु, राजतिलक, सिंहासनारोहण तथा विवाह का ब्योरा दर्ज किया जाता था

स्वर्गदेव अहोम राजा को *स्वर्गदेव* पुकारा जाता था, शाब्दिक रूप से जिसका अभिप्राय स्वर्गिक राजा या स्वर्ग से अवतरित राजा से है, जो संकेत करता था कि अहोम राजा देवताओं के वंशज थे

यवनी यवनों से संबंधित (आक्रमणकारी, विदेशी तथा मुस्लिम)

11.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 11.2
2) देखें भाग 11.3 तथा इसके उप-भाग
3) देखें उप-भाग 11.3.3

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 11.6
2) देखें भाग 11.7 तथा इसके उप-भाग

11.11 संदर्भ ग्रंथ

बरुआ, हरकान्त, (1930) *असम बुरँजी ऑर ए हिस्ट्री ऑफ असम,* (संपा.) एस. के. भुयान (गुवाहाटीः डिपार्टमेंट ऑफ हिस्टॉरिकल एंड एंटीक्वेरियन स्टडीज़).

भुयान, एस. के., (1930) *कामरूप बुरँजी* (गुवाहाटीः डिपार्टमेंट ऑफ हिस्टॉरिकल एंड एंटीक्वेरियन स्टडीज़).

भुयान, एस. के., (1947) *एनाल्स ऑफ द दिल्ली बादशाहत* (गुवाहाटीः डिपार्टमेंट ऑफ हिस्टॉकिरल एंड एंटीक्वेरियन स्टडीज़).

भुयान, सूर्य कुमार, (2013, पुनः मुद्रित [1949]) *अर्ली ब्रिटिश रिलेशंस विद* असम (गुवाहाटीः ई बी एच पब्लिशर्स).

देशपांडे, अनिरुद्ध, (2013) 'मराठास, राजपूत्स एंड अफगांस इन मिड एटींथ सेंचुरी इंडियाः भाऊसाहेबांची *बखर* एंड द आर्टिकुलेशन ऑफ़ कल्चरल डिफरेंस इन प्री कोलोनियल इंडिया', नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम एंड लाइब्रेरी, ओकेजनल पेपर, *हिस्ट्री एंड सोसाइटी,* न्यू सीरीज 10.

दीक्षित, राजा, (2009) 'हिस्टोरिकल राइटिंग्सः चैलेंज एंड रिस्पॉन्स', श्रद्धा कुंभोजकर, (संपा.) 19th *सेंचुरी महाराष्ट्रः अ रिएसेसमेंट* (कैंब्रिजः कैम्ब्रिज स्कॉलर्स पब्लिशिंग), पृ. 11-20.

देशपांडे, प्राची, (2004) 'कास्ट एज मराठाः सोशल कैटेगरीज कोलोनियल पॉलिसी एंड आइडेंटिटी इन अर्ली ट्वेंटीयथ सेंचुरी महाराष्ट', *द इंडियन इकोनामिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू,* भाग 1, पृ. 7-32; doi/10.1177/001946460404100102

देशपांडे, प्राची, (2007) *क्रिएटिव पास्ट्स हिस्टॉरिकल मेमोरी एंड आइडेंटिटी इन वेस्टर्न इंडिया 1700-1960* (दिल्लीः परमानेंट ब्लैक).

दिवेकर, वी. डी., *सर्वे ऑफ मेटेरियल इन मराठी ऑन द इकोनामिक एंड सोशल हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया*-1, भाग XV, No. 1, पृ. 81-117.

गैट, सर एडवर्ड, (2006 पुनःमुद्रित) *हिस्ट्री ऑफ असम* (नई दिल्लीः सुरजीत पब्लिकेशंस).

गुहा, अमलेंदु (1983) 'द एहोम पॉलीटिकल सिस्टम एंट्री इन टू द स्टेट फॉरमेशन प्रोसेस इन मिडिवल असम (1228-1714)', *सोशल साइंटिस्ट,* भाग 11, नं. 12 (दिसम्बर.), पृ. 3-34.

गुहा, सुमित, (2004 [क]) 'स्पीकिंग हिस्टॉरिकली द चेंजिंग वॉयसेस ऑफ हिस्टॉरिकल नरेशन इन वेस्टर्न इंडिया, 1400-1900', *अमेरिकन हिस्टॉरिकल* रिव्यू, पृ. 1084-1103.

गुहा, सुमित, (2004 [ख]) 'ट्रांजिशंस एंड ट्रांसलेशंस रीजनल पावर एंड वर्नाकुलर आइडेंटिटी इन डेक्कन 1500.1800', *कंपैरेटिव स्टडी ऑफ साउथ एशिया, अफ़्रीका एंड मिडल ईस्ट,* 24 (2): 23.31.

गुहा, सुमित, (2019) *हिस्ट्री एंड कलेक्टिव मेमोरी इन साउथ एशिया 1200-2000* (सिएटलः यूनिवर्सिटी ऑफ वाशिंगटन प्रेस), पृ. 83-118.

गोगोई, भास्कर ज्योति, (2020) 'लुकिंग इन (/): ए केस स्टडी ऑफ नॉर्थईस्ट विद स्पेशल रेफरेन्स टू त्रिपुरा बुरँजीस (1724)', *रूपकथा जर्नल ऑन इन्टर डिसीप्लीनरी स्टडीज़ इन ह्यूमेनिटीज़,* भाग 12:3.

गॉर्डन, स्टीवर्ट, (1993) *न्यू कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडियाः द मराठाज़, 1600-1800* (कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस).

हार्टमैन, जॉन एफ., (1997) 'फोनसावडान ताइ-अहोमः अहोम *बुरँजी* (ताइ अहोम क्रॉनिकल्स)', रिव्यू आर्टिकल, *जनरल ऑफ साउथ ईस्ट एशियन हिस्ट्री,* भाग. 28, नं. 1 (मार्च.), पृ. 227-229.

कर्माकर, दीपेश, (2011), 'अंडरस्टैंडिंग प्लेस नेम्स इन महिकावातिची बखरः अ केस ऑफ मुंबई थाने रीजन', XXX *एनुअल कांग्रेस ऑफ द प्लेस नेम इन सोसायटी इन इंडिया,* कल्याण.

कुलकर्णी, ए. आर., (2004) 'ट्रेंड्स इन मराठा हिस्टॉरियॉग्राफीः विश्वनाथ काशीनाथ रजवाडे (1863-1926)', *इंडियन हिस्टॉरिकल रिव्यू,* भाग XXIX, नं. 1-2 (जनवरी तथा जुलाई 2002), पृ. 115-44.

मुजावर, मुफ़ीद, (2018) 'विजिटिंग अर्लीस्ट मराठी नैरेटिव ऑफ मुस्लिम क्वेस्ट रिप्रेजेंटेशंस ऑफ मुसलमान इन महिकावातिची बखर', *एन इंटरनेशनल जनरल ऑफ कोलकाता सेंटर फॉर कंटेंपरेरी स्टडीज (KCCS)*, इंक्लूसिव स्पेशल आर्टिकल्स, भाग 1, नं. 12.

नाग, सजल, (2015) 'कंटेस्टिंग एक्सक्लूजन रेजिस्टिंग इंक्लूज़नः कांट्रडिक्ट्री ट्रेंड्स इन हिस्टॉरिकल रिसर्च इन नॉर्थ ईस्ट इंडिया फ्रॉम द नाइंटीन्थ टू द ट्वेंटीयथ सेंचुरी', सब्यसाची भट्टाचार्य, (संपा.) *अप्रोचएज़ टू हिस्ट्रीः एसेज़ इन इंडियन हिस्टॉरियोग्राफी* (दिल्लीः प्राइमस बुक्स).

नरवेकर, अनिल, 'सोर्सेज ऑफ मराठा हिस्ट्री, इंडियन सोर्सेज', Academia.edu. पृ.1-309.

पुरकायस्थ, सुदेशन, (2008) 'रिस्ट्रक्चरिंग द पास्ट इन अर्ली ट्वेंटीयथ सेंचुरी असमः हिस्टॉरियॉग्राफी एंड सूर्य कुमार भुयान', रज़ीउद्दीन अकील एंव पार्था चटर्जी, (संपा.) *हिस्ट्री इन द वर्नाकुलर* (रानीखेतः परमानेंट ब्लैक), पृ. 173-4; https://archive.org/details/ annalsofthedelhi035479mbp/page/n11 mode/2up

सैकिया, अरूपज्योति, (2008) 'हिस्ट्री, बुरँजी एंड नेशनः सूर्य कुमार भुयान'स हिस्ट्रीज़ इन ट्वेंटीयथ सेंचुरी असम', *द इंडियन इकोनामिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, भाग 45, नं. 4.

सैकिया, यास्मीन, (2006) 'रिलीजन नॉस्टैल्जिया एंड मेमोरीः मेकिंग एन एनिशिएंट ताइ-अहोम आईडेंटिटी इन असम एंड थाईलैंड', *द जरनल ऑफ एशियन स्टडीज़*, भाग 65, नं. 1 (फ़रवरी), पृ. 33-60.

सेन, सुरेन्द्रनाथ, (1920) *एक्सप्ट्र्स एंड डॉक्युमेंट्स रिलेटेड टू मराठा हिस्ट्री*, भाग 1: *शिवा छत्रपति बीइंग अ ट्रांसलेशन ऑफ सभासद बखर विद एक्सट्रैक्ट फ्रॉम चिटनिस एंड शिव दिग्विजय विद नोट्स* (कलकत्ताः यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता).

सिंह, चेतन, (2018) *हिमालयन हिस्ट्रीः इकोनामिक पॉलीटिकल इंस्टीट्यूशंस* (दिल्लीः परमानेंट ब्लैक).

स्कंद, प्रिया, (2017) 'री-कॉटेक्स्च्युलाइज़िंग द मिडिवल इंडियन पास्टः वर्नाकुलर नैरटिव ट्रडिशंज़', *इंक्लूसिवः* स्पेशल आर्टिकल, भाग 1, नं. 10-11.

थापर, रोमिला, (2003) *कल्चरल पास्ट्सः ऐसे इन अली इंडियन हिस्ट्री* (दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

विसना, विक्रम, (2020). 'सावरकर बिफोर हिंदुत्वः सोवरनिटी रिपब्लिक्निज़्म एंड पापुलिज़्म इन इंडिया, *c*.1900-1920' *मॉडर्न इंटेलेक्चुअल हिस्ट्री*, 1-24; doi:10.1017/S 1479244320000384

विंक, आंद्रे, (1985) *लैंड एंड सॉवरनिटी इन इंडिया* (हैदराबादः ओरियंट लोंगमैन).

11.12 शैक्षणिक वीडियो

बखरः ऐजुकेश्नल वीडियोज़

https://www.youtube.com/watch?v=B0RcB3o4oMY

सभासद बखर (इतिहासाच्या साधनांची ओलख – भाग 1)

https://www.youtube.com/watch?v=B0RcB3o4oMY